समकालीन हिन्दी कहानी में ग्रामीण यथार्थ

(1970–2000)

Samkalin Hindi Kahani Mein Gramin Yathartha (1970-2000)

The Reality of Village in Contemprory Hindi Stories (1970-2000)

पीएच.डी की उपाधि हेतु प्रस्तुत
शोध–प्रबंध

शोध–निर्देशक
प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे

शोधार्थी
नूतन श्री

भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा, साहित्य और संस्कृति अध्ययन संस्थान
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–110067

2016

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
भारतीय भाषा केन्द्र
Centre of Indian Languages
भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान
School of Language, literature & Culture Studies
नई दिल्ली–110067, भारत NEW DELHI-110067, INDIA

Dated:15/07/2016

DECLARATION

I hereby declare that the research work done in this Ph.D. thesis entitled **"SAMKALIN HINDI KAHANI MEIN GRAMIN YATHARTHA (1970-2000)" [THE REALITY OF VILLAGE IN CONTEMPRORY HINDI STORIES (1970-2000)]** by me is the original research work and it has not been previously submitted for any other degree in this or any other University/Institution.

Nutan Shree

Nutan Shree
(Research Scholar)

15/7/16

Prof. Devendra Kumar Choubey
(Supervisor)
CIL/SL/&CS/JNU

Prof. S. M. Anwar Alam
(Chairperson)
CIL/SL/&CS/JNU

''हर वह कला श्रेष्ठ है जो जन संघर्षों तथा क्रांति में जनता का साथ देती है।''

माओत्से–तुंग

भूमिका

भारतीय समाज एक वृहत् समाज है, जो सामान्य तौर पर शहरी और ग्रामीण समाज में बँटा हुआ है। इन दोनों समाज के जीवनयापन के साधन और कुछ स्रोत है, जो इनकी आर्थिक गतिशीलता को संचालित करते हैं। इन दोनों की संस्कृति अलग–अलग होती है। जहाँ शहर की जिन्दगी बाजार को लेकर गतिशील होती है, वहाँ गाँव की जिन्दगी संस्कृति को लेकर गतिशील दिखाई देती है। जिस तरह मध्यवर्गीय समाज शहर की धुरी और केन्द्रीय समाज होता है। ठीक उसी तरह किसान समाज ग्रामीण समाज का। महात्मा गाँधी कहा करते थे कि 'वास्तविक भारत गाँवों में बसता है।' गाँवों में रह रहे करोड़ों लोगों का जीवन–स्तर सुधारने के लिए ही खादी जैसे आर्थिक कार्यक्रमों का पक्ष लिया और मशीनों के इस्तेमाल का विरोध किया। वे गाँव को आत्मनिर्भर इकाई बनाना चाहते थे, जो शहरों पर निर्भर न हो।

इतिहासकारों का मानना है कि, आधुनिक भारत की सबसे बड़ी क्रांति जो 1857 में हुई थी, उसके पीछे कम्पनी राज्य में किसानों की दुर्दशा और उनका उत्पीड़न सबसे बड़ा कारण था। सन् 1950 ई. से लेकर ग्रामीण क्षेत्र में जमींदारी उन्मूलन, सामुदायिक विकास योजनाओं का प्रारम्भ, ग्राम पंचायतों का नया कारोबार, चुनाव आदि की नयी चहल–पहल प्रारम्भ होती है, जिससे कहानीकार प्रभावित हुए बगैर नहीं रह सके। आज किसान और खेती को बर्बादी की ओर धकेला जा रहा है। नीति नियन्ता किसान की बजाय उद्योगपतियों का साथ दे रहे हैं। कारपोरेट की जगह कांट्रेक्ट फार्मिंग थोपी जा रही हैं। हरित क्रांति के द्योतक खेत बंजर होने के कगार पर है और उनमें टर्मिनेटेड सीड बोए जाने पर जोर दिया जा रहा है। राज्य सरकारे उदारीकरण के इस दौर में सेंसेक्स उछाल मारे और अर्थव्यवस्था कुलाँचे भर इन आँकड़ों में उलझी हुई है। जिन प्रदेशों में विकास की रीढ़ खेती रही है, वहाँ मलटीनेशनल कम्पनियों को कॉट्रेक्ट फार्मिंग करने, जीएम बीज के जरिए कई गुना उत्पादक लेने, मनमाफिक दाम तय करने के साथ बड़ी कम्पनियों को विलेज मौल्स बनाने समेत सभी बुनियादी सुविधाएँ मुहैया कराई जा रही है, जो ढाँचागत बदलाव गाँव को होना चाहिए था, वह सिरे से गायब है। महँगाई बढ़ी और उसी

अनुपात में खेती की उत्पादन लागत भी बढ़ी। गाँवों और शहरों में प्रति व्यक्ति आय में असमानता तेजी से बढ़ी और नतीजतन घाटे का सौदा साबित हुई खेती से किसानों के साथ–साथ युवा पीढ़ी का भी मोह भंग हो रहा है। शहर की तरफ पलायन तेजी से बढ़ने का एक प्रमुख कारण यह भी है। आज स्थिति यह है कि जो खेत सोना उगलते थे, आज बंजर होने के कगार पर है। किसान को इस दुश्चक्र से निकालने की कोई तरकीब नहीं सूझ रही है। इस तरह हमेशा से लोगों को आकर्षित करने वाला और खाद्य सुरक्षा प्रदान करने वाला गाँव आज बेहाल हो रहा है। इसी कारण मुझे गाँवों के बारे में अध्ययन की प्रेरणा मिली और मेरा यह शोध–कार्य इसी का परिणाम है।

मेरे शोध का आधार वर्ष 1970 से 2000 के बीच प्रकाशित हिंदी की कहानियाँ हैं, जिनके माध्यम से मैंने गाँवों की सच्ची तस्वीर देखने की कोशिश की है। आधुनिकता के संक्रमण से ग्रामीण परिवेश के विभिन्न वर्गों की सामाजिक पद्धतियों एवं मूल्यों में परिवर्तन हो रहे है। समकालीन कहानीकारों ने बदलते ग्रामीण–जीवन के यथार्थ को गंभीरता से चित्रित किया है। ग्रामीण यथार्थ के रूप में समकालीन कहानीकारों की कहानियों का अध्ययन–विश्लेषण इस अध्ययन का मुख्य उद्देश्य है। 1967 के मार्च महीने में नक्सलबाड़ी (पं. बंगाल) इलाके के किसानों ने जमीन पर कब्जा करना शुरू कर दिया। यह किसान संघर्षों के नए अध्याय का आरंभ था, जिसे 'बसंत का ब्रजनाद' की संज्ञा दी गई। कुछ राजनीतिक विचारकों ने इसे 'उग्र वामपंथी आंदोलन और चेतना' की शुरूआत भी माना। धीरे–धीरे यह आंदोलन दावानल की तरह पूरे देश में फैल गया जैसेः–आंध्र–प्रदेश, छत्तीसगढ़, झारखण्ड, तमिलनाडु महाराष्ट्र एवं उड़ीसा आदि। नक्सलबाड़ी आंदोलन की शुरूआत ने भारतीय समाज और राजनीति में व्यापक बदलाव की आकांक्षा को रेखांकित किया। इस आंदोलन ने पहली बार किसानों की असीमित, अग्रगामी क्रांतिकारी चेतना और संगठन क्षमता का उद्‌घाटन किया। इस आंदोलन ने पहली बार दलितों और स्त्रियों की मुक्ति और राज्यों की स्वायत्तता के प्रश्न को परिदृश्य पर पूरे सामाजिक और मानवीय सरोकारों के साथ प्रकट किया और उनके संघर्ष को व्यापक समाज बदलाव का हिस्सा माना। भारतीय समाज और शासक वर्ग की

नई व्याख्याएँ प्रस्तुत की गई और क्रांतिकारी जनवाद की धारणा सामने आई। ऊपर से देखने में यह आंदोलन आज बिखरा हुआ और अनेक गुटों में विभाजित दिखता है, किन्तु पृष्ठभूमि में यह आज भी भारत का सबसे बड़ा किसान आंदोलन है, जो अपने अनेक रूपों के साथ भारतीय राजनीति के परदे पर मौजूद है।[1]

भारत में हरित क्रांति की खुशहाली कुछ क्षेत्रों, कुछ वर्गों और कुछ फसलों तक सीमित रही। लेकिन इस सीमित खुशहाली के दिन भी अब लद गए। जिस विश्व बैंक ने पहले नई टेक्नोलॉजी के प्रचार–प्रसार के लिए सभी आवश्यक उपादान (उन्नत बीज, रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाइयाँ, सिंचाई, बिजली, आधुनिक कृषि यंत्र) सरकार द्वारा सस्ते व अनुदानयुक्त देने की सिफारिश की थी, उसी ने रंग बदल लिया। वर्ष 1991 के बाद विश्व बैंक और अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के निर्देशन में भारत सरकार ने अनुदानों को कम करते हुए इन सारे उपादानों को क्रमशः महँगा करने की नीति अपनाई। दूसरी ओर, विश्व व्यापार संगठन की स्थापना के साथ ही खुले आयात की नीति के चलते कृषि उपज के सस्ते आयात ने भारतीय किसानों की कमर तोड़ दी। बढ़ती लागत और कृषि उपज के घटते दामों के दोनों पाटों के बीच भारतीय किसान बुरी तरह पिसने लगे।[2] ग्लोबीकरण या भूमंडलीकरण ने इस प्रवृत्ति को और तेज किया है, जिससे नए संकट खड़े हो रहे हैं। खेती की नई टेक्नोलॉजी इतनी आक्रामक है, कि वह प्रकृति से जुड़ी इस गतिविधि को प्रकृति के विरूद्ध खड़ी कर रही है, वातावरण में विष घुलते जा रहे हैं जैविक विविधता का तेजी से ह्रास हो रहा है।

समय के साथ बदलती राजनीति ने गाँवों में भी जातिवाद एवं साम्प्रदायकिता की राजनीति को बढ़ावा दिया है। वहीं पूंजीवादी उपभोक्तावादी संस्कृति ने भी गाँव की संस्कृति को प्रभावित किया है, जिससे गाँव में सामुदायिकता की भावना आहत हुई हैं। इन्हीं सब बिन्दुओं पर मैंने अध्ययन की कोशिश की है। सुविधा के लिए मैंने पूरे शोध ग्रंथ को सात अध्यायों में बांटा है।

---

[1] पत्रिकाः कथोदश, मई 2012, पृ.–91

[2] पटनायक, किशनः किसान आंदोलन–दशा और दिशा, पृ. 7

पहला अध्याय 'भारतीय गाँव की संरचना और कहानी में गाँव' शीर्षक से है जिसमें भारतीय ग्रामीण समाज की संरचना को स्पष्ट करते हुए गाँव की बदलती हुई सामाजिक और आर्थिक जिंदगी को विवेचित एवं विश्लेषित किया गया है। हिन्दी कहानी की विकास–यात्रा में ग्रामीण जीवन को आधार लेकर लिखी गई कहानियों की चर्चा की गई है, जिसके अन्तर्गत बदलते हुए ग्रामीण जीवन के यथार्थ को ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। यहाँ इस बात की तरफ भी संकेत किया गया है कि ग्रामीण जीवन की संरचना में कृषक–मजदूर, स्त्री, दलित और आदिवासी महत्वपूर्ण समूह है।

दूसरे अध्याय में समकालीन हिन्दी कहानी में ग्रामीण जीवन की चर्चा की गई है। ग्राम–जीवन की प्रमुख जीवन–सरणियों के अनुरूप उसके स्पष्ट विवेचन के लिए हम ग्राम–जीवन को चार प्रमुख आयामों में विभक्त करके देखते हैं। वे हैं– राजनीतिक जिंदगी, सामाजिक जिंदगी, आर्थिक जिंदगी और सांस्कृतिक जिंदगी। गाँव का सामाजिक जीवन बड़ी द्रूतगति से परिवर्तित हो रहा है। जीवन–मूल्यों का संक्रमण, सम्बन्धों का तनाव और विघटन, जाति–वर्ण व्यवस्था, समाज में नारियों की स्थिति आदि इसके प्रमुख उत्स हैं, जिनके आधार पर विवेचित एवं विश्लेषित किया गया है। राजनीतिक–चेतना की विविध आर्वतमयी स्थितियाँ जैसे चुनाव, विद्रोहवृत्ति, जमींदारी–उन्मूलन को उद्घाटित किया गया है। सरकार की नई नीतियों से मजदूर–किसान और बदहाल हुआ है। पांरपरिक खेती अब समाप्त होने लगी है और पूंजीवादी खेती शुरू। खेती के अधिक लागतपूर्ण होने के कारण किसान ऋण लेने को मजबूर हुआ है और फसल अच्छी न हाने अथवा अच्छी कीमत न मिलने के कारण ये ऋणग्रस्त होते चले गए। दूसरी ओर शहरों में बिजली और पानी उपलब्ध कराने के लिए बड़े–बड़े बांध बनाए जा रहे हैं जिससे गाँव के गाँव डूब रहे हैं। इससे न केवल गाँव वालों की खेती और रोजगार नष्ट होते हैं अपितु नष्ट हो जाती है। उनकी पूरी संस्कृति और इससे प्रभावित लोग विस्थापित होकर हाशिये का समाज बनकर रह जाते है।

भारतीय ग्रामीण मजदूरों और किसानों की जिंदगी अत्यंत कष्टकारी है। आर्थिक दुरव्यवस्था ने गांव में बेकारी और गरीबी के प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका

निभाई है। ग्रामीण मजदूर और किसान, जो आर्थिक और सामाजिक रूप से अत्यंत कमजोर और पिछड़े हैं। तीसरे अध्याय में मैंने इन्हीं की जिंदगी से जुड़ी समस्याओं को उठाया है और यह दिखलाने की कोशिश की है कि गाँवों में हो रहे कृषि–संघर्ष का सबसे बड़ा कारण आर्थिक ही है। वह आकण्ठ कर्ज में डूबा है। वहीं दूसरी ओर कृषि भूमि तथा मजदूरी संबंधी विवाद भी है।

भारतीय ग्रामीण समाज की मुख्यधारा के अंदर स्त्री समाज की मुख्य भूमिका में होती है। चौथे अध्याय में मैनें ग्रामीण सामाजिक संरचना में स्त्री, उसके श्रम की संस्कृति, लोकतांत्रिक प्रक्रिया में उसकी सहभागिता और प्रतिरोध के स्वर को दिखाया है। पुरूषवादी और सामंती समाज इनके शारीरिक शोषण को भी तैयार रहता है। शिक्षा और स्वास्थ्य की दृष्टि से भी ये पिछड़ी होती है। वर्तमान समय में विभिन्न योजनाओं के कारण इनमें कुछ जागरूकता आई है। समकालीन कहानियों में इनकी जागृत चेतना और प्रतिरोध के स्वर को दिखाया गया है। गाँव की स्त्रियों ने लोकतांत्रिक प्रक्रिया में हिस्सा लिया है, जिसके कारण उनके लिए नई संभावनाओं के द्वार खुल हैं। फिर भी रूढ़िगत समाज इनके नए रूप से परेशान है। इन्हीं सभी बिंदुओं पर इस अध्याय में विचार किया गया है।

पाँचवा अध्याय में दलित वर्ग की सामाजिक–आर्थिक स्थिति, इनका राजनैतिक जागरण तथा स्वीकृत परम्परा के खिलाफ विद्रोह एवं संघर्ष को देखने की कोशिश की गई है। इनकी बस्ती गाँव से बाहर होती है तथा ये गरीबी, भूखमरी के शिकार होते हैं। वहीं गाँव का प्रभु वर्ग इनके प्रतिरोध को दबाने की कोशिश करता है। समकालीन कहानिकारों ने दलितों के इन्हीं शोषण और उत्पीड़न को केन्द्र में रखकर कई कहानियाँ लिखी हैं। इन कहानियों के माध्यम से मैंने दलितों की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक स्थिति को देखने की कोशिश की है।

भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के बाहर जो समाज हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने को विवश है, उनमें 'आदिवासी समाज' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है, जोकि सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से कमजोर एवं पिछड़े है। 'आदिवासी' शब्द का तात्पर्य जंगलों पहाड़ों में रहने वाले मानव–समूहों तक ही

सीमित कर दिया गया है। आदिवासियों का दुर्भाग्य है कि जंगलों और पर्वतों में भी अमन और चैन से इन्हें नहीं रहने दिया गया है, जिसके परिणामस्वरूप ये निरंतर विस्थापित हो रहे हैं। स्वतंत्रता के बाद जंगल पर आदिवासियों का अधिकार क्रमशः संकुचित होता गया। इसके साथ ही गरीबी की समस्या भी व्यापक एवं गंभीर होती गई। यही कारण है कि आदिवासी क्षेत्रों में बाह्य अतिक्रमण और शोषण की प्रवृत्ति प्रबल होती गई। अतिक्रमण और शोषण की प्रवृत्तियों ने जनजातीय समाज को अपने हित के लिए आन्दोलित को प्रेरित किया। छठवां अध्याय में मैंने इन्हीं मुद्दों को उठाने का प्रयास किया है। इस अध्याय में उनके जीवन की समस्याओं, अंधविश्वासों और विकास के समानांतर उनकी जिंदगी में आ रहे बदलाव पर विचार करने का प्रयास किया है।

सातवें अध्याय में मैंने कहानी की कला को स्पष्ट करते हुए समकालीन कहानी में प्रयुक्त भाषा किस प्रकार समय और स्थान के साथ परिवर्तित होने लगती है और समाज के लोगों की जिंदगी के यथार्थ को बयान करती है, यह बताने का प्रयास किया गया है।

अन्त में उपसंहार है, जिसके अन्तर्गत समस्त अध्यायों का निष्कर्ष एवं मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। साथ ही उन पुस्तकों और पत्रिकाओं की सूची दी गई है जिसकी सहायता शोध–प्रबंध में ली गई है।

सर्वप्रथम मैं उन कृतिकारों और विद्वानों के प्रति अत्यन्त आभारी हूँ, जिनकी सर्जनात्मक और वैचारिक उपलब्धियों का उपयोग मैंने इस शोध–कार्य में किया है।

विषय चयन से लेकर शोध–प्रबंध के इस रूप में आने तक मेरे शोध–निर्देशक प्रो. देवेन्द्र कुमार चौबे का मशविरा इसके रूप निर्धारण में विशेष सहायक रहा है। उनकी महत्वपूर्ण सलाहों ने इस शोध को न केवल बाहरी, बल्कि आंतरिक रूप (content) को भी मजबूती प्रदान की है। साथ ही समय–समय पर अपने अमूल्य सुझाव देकर, मेरी वैचारिक और व्यावहारिक कठिनाईयों का समाधान किया है।

मैं भारतीय भाषा केन्द्र के सभी शिक्षकों और कर्मचारियों के प्रति धन्यवाद व्यक्त करना चाहूँगी, जिनके सहयोगात्मक रवैये ने कार्य को सुचारू रूप से पूर्ण करने में अपनी भूमिका निभाई है। जे.एन.यू. पुस्तकालय और दिल्ली विश्वविद्यालय के केन्द्रीय पुस्तकालय के कर्मचारियों का सहयोग भी उल्लेखनीय रहा।

मैं इस क्रम में माँ, पिता, भाई की कृतज्ञ हूँ, जिन्होंने मुझे इतना आगे पढ़ने और फलस्वरूप परिवेश को देखने, समझने, सोचने और निर्णय लेने हेतू आवश्यक चेतना के विकास का अवसर प्रदान किया। अध्ययन–काल में उन्होंने मेरे प्रति जिस असीम स्नेह और गहन आत्मीयता का परिचय दिया, उसे मैं भूल नहीं सकती। मैं पति मुकेश कुमार के प्रति कृतज्ञयता को किन शब्दों में व्यक्त करूं, सोच नहीं पाती। अध्ययन और लेखन के रूप में मेरी अब तक की सारी उपलब्धियों के प्रेरणास्रोत रहे हैं। इस शोध लेखन में उनका कर्मठ योगदान भी रहा है। उनके इस तात्विक सहयोग को भी मैं औपचारिकता के तकाजों से परे रखती हूँ।

–नूतन श्री

अनुक्रमणिका

भूमिका **1–7**

अध्याय–1 **10–57**

भारतीय गाँव की संरचना और कहानी में गाँव

1.1 गाँव की संरचना

1.2 गाँव की समाजिक जिंदगी

1.3 गाँव की बदलती हुई अर्थव्यवस्था

1.2 कहानी की दुनिया में गाँव

1.2.1 प्रारंभ से– 1918 तक का समय

1.2.2 सन् 1918 से 1947 तक का समय

1.2.3 सन् 1947 से 1967 तक का समय

1.2.4 सन् 1967 से 2000 तक का समय

अध्याय–2 **58–90**

समकालीन हिन्दी कहानी में गाँव और ग्रामीण समाज का राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक यथार्थ

2.1 समकालीन कहानी में गाँव की राजनीतिक जिंदगी

2.2 समकालीन कहानी में गाँव की सामाजिक जिंदगी

2.3 नयी आर्थिक नीति और गाँव की बदलती संस्कृति

अध्याय–3 **91–116**

कृषक–मजदूर समाज का यथार्थ

3.1 ग्रामीण जीवन में किसान

3.2 ग्रामीण जीवन में मजदूर

3.3 गाँव में वर्चस्व की संस्कृति एवं कृषि संबंधी– संघर्ष

अध्याय–4 **117–135**

स्त्री जीवन का यथार्थ

4.1 गाँव जिंदगी में स्त्री

4.2 परिवार में स्त्री

4.3 श्रमिक स्त्री और उनका प्रतिरोध

अध्याय–5 **136–164**

दलित समाज का यथार्थ

5.1 भारतीय गाँव की संरचना, वर्ण–व्यवस्था और दलित समाज

5.2 दलित समाज एवं उनका संघर्ष एवं प्रतिरोध

5.3 दलित स्त्रियाँ

अध्याय–6 **165–193**

आदिवासी समाज का यथार्थ

6.1 भारतीय गाँव की संरचना में आदिवासी

6.2 आदिवासी समाजः संघर्ष एवं प्रतिरोध

6.3 आदिवासी समाज में स्त्रियाँ

अध्याय–7 **194–211**

ग्रामीण जीवन की भाषा और जिन्दगी का यथार्थ

7.1 समकालीन कहानी और गाँव की भाषा

7.2 गाँव के लोगों की भाषा–जिंदगी की वास्तविकता की पहचान

उपसंहार **212–217**

संदर्भ–ग्रंथ सूची **218–226**

1.1. गाँव की संरचना

गाँव का उद्‌भव उस काल में हुआ था जब मनुष्य घुमंतू न होकर कृषि करना प्रारम्भ किया। कृषि के लिए उन्होंने औजार बनाए जिससे खेती संभव हो सका। कृषि के साथ ही वे एक जगह पर रहना आरम्भ किये क्योंकि खेती उनकी आजीविका का मुख्य साधन था। धीरे–धीरे एक समुदाय का निर्माण हुआ। रहन–सहन के तौर–तरीके और विभिन्न संसाधनों के विकास ने गाँव का निर्माण किया। ए.आर. देसाई ने 'रूरल सोशियोलॉजी इन इंडिया' में गाँव के उद्‌भव के बारे में इस प्रकार लिखा है– ''विद द इंवेंशन ऑफ प्लॉ, मैन कुड डेवलप स्टेवल एग्रीकल्चर, द बेसिक सोर्स ऑफ फूड सप्लाई। दे सेटल्ड ऑन ए डिफिनिट टेरिटरी एण्ड ऑर्गनाइज विलेजेज ऐज देयर फिक्सड हैविटेशन एण्ड एग्रीकल्चर ऐज देयर मेन ऑकुपेशन केम इन टु एक्जीस्टेन्स।''[1] अर्थात् जुताई के आविष्कार से मनुष्य भोजन के मुख्य आपूर्ति के स्रोत के रूप में खेती का विकास कर सका और वह एक निश्चित भू–भाग पर स्थाई रूप से रहने लगा। परिणामस्वरूप गाँव का निर्माण हुआ और कृषि उनकी मुख्य आजीविका बना। इससे यह प्रमाणित होता है कि कृषि ही गाँव के विकास का मुख्य आधार था और आज भी गाँव की पहचान खेती से ही होती है। 'पूस की रात' कहानी का हल्कू इसी किसानी का प्रतीक है। जब खेती अपनी आजीविका से अधिक होने लगी तब कुछ लोगों ने खेती के पेशे को छोड़कर अन्य पेशे को अपनाया इस तरह से समाज में विभिन्न वर्ग समूहों ने जन्म लिया। जातियों और वर्णों का निर्माण इसी से हुआ।

'यद्यपि 'संरचना' शब्द अंग्रेजी के 'स्ट्रक्चर' शब्द का पर्याय है, जिसका मूल उस आवयविक सिद्धांत (आर्गेनिक थियरी) है। संरचना में सम्यक् रचना का भाव नहीं अपितु उसमें अंतर्ग्रथन, संगुम्फन एवं आंतरिक संघटन का भाव निहित है। कृति की आन्तरिक अन्विति बहुस्तरीय एवं संश्लिष्ट होती है। उसकी परस्पर लिपटी तहों में गुंथे हुए प्रसंग, घटनावलियाँ, मनः स्थितियों के आवर्त अपने पारस्परिक रचाव में ही सारी विद्रूपता एवं जटिलता को घोषित करते हैं। अतः संरचना के विभिन्न घटकों एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों के विश्लेषण से ही कृति में अन्तर्निहित युगसत्य एवं भोगे हुए यथार्थ की सार्थकता एवं प्रमाणिकता की समग्र

पहचान संभव है।[2] भारत के सामाजिक जीवन की संरचना की चर्चा करते हुए 'श्यामाचरण दुबे' ने 'भारतीय समाज में लिखा है कि 'गाँव कोई संयुक्त लोगों का समूह नहीं है, बल्कि इसकी अपनी एक अलग पहचान है। इसके कुछ निश्चित संपदा स्रोत हैं, सामान्य जीवन है, सामूहिक रूप से व्यवहार करने के लिए कुएँ और तालाब है।'[3] इसके अतिरिक्त गाँव में ग्राम–पंचायत, मंदिर, मस्जिद, चर्च तथा गुरुद्वारे होते हैं, जो आमतौर पर सभी के लिए खुले होते हैं। ग्रामीण जीवन में इन सामाजिक तथा धार्मिक संस्थाओं की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ग्राम–पंचायत जहाँ लोगों की छोटी–मोटी शिकायतों को निपटाकर न्याय देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, वहीं मंदिर और मस्जिद जैसी संस्थाएँ लोगों को एक सुखी, स्वस्थ और लाभकारी जीवन प्रदान करने में अगुवाई करती हैं।[4] गाँव में अपना एक व्यापार केंद्र भी होता है, जहाँ सालभर या कुछ महीनों के अंतराल में बाजार और मेला लगता है, जहाँ आसपास के गाँव के लोगों की खूब भीड़ होती है। स्वयं द्वारा उपजाई गयी खाद्य सामग्री और हस्तकला की सामग्रियाँ विक्रय के लिए लोग यहाँ ले आते हैं।[5] यह ग्रामीण– जीवन की संरचना का एक पक्ष है। दूसरा पक्ष, वहाँ रहने वाले लोग हैं, जो ग्रामीण जीवन की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवस्था का संचालन करते हैं। इसमें एक वर्ग संचालकों का होता है, जिसमें आमतौर पर जमींदार, सामंत, साहूकार, बड़े किसान और पुरोहित होते हैं। दूसरा समुदाय उन लोगों का होता है, जो परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उपर्युक्त वर्गों के अधीन कार्य करते हैं। इस समुदाय के अंदर गाँव के निम्न और दलित जातियों के लोग आ जाते हैं, जिनमें नाई, लुहार, बढ़ई आदि के साथ ही खेतिहर तथा बंधुआ मजदूर भी होते हैं, जो दासों की तरह दैनिक मजदूरी या भरपेट भोजन के आधार पर सामंतों तथा जमींदारों के घरों, खेतों ओर ईंट–भट्ठों पर काम करते हैं। जिस प्रभुवर्ग के यहाँ ये लोग कार्य करते हैं, उनसे इन्हें रोज मजदूरी नहीं मिलती है, बल्कि सप्ताह, महीना या वर्षभर में इन्हें 'अनाज' या 'जोत' का एक छोटा–सा हिस्सा मिलता है, जिसके आधार पर ये अपना और अपने परिवार का गुजारा करते हैं। इनके आपसी लेन–देन का आधार भी 'अनाज' ही होता है।[6] देवेन्द्र कुमार चौबे 'समकालीन कहानी का समाजशास्त्र' में लिखते हैं कि प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय गाँवों की संरचना पूरी तरह से स्वशासित थी। इन गाँवों की अपनी एक सामाजिक,

सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवस्था थी, जिसके कारण ये पूरी तरह से आत्मनिर्भर थे। बाह्य प्रभाव का असर इन पर नहीं के बराबर पड़ता था तथा ये उसकी आवश्यकता भी महसूस नहीं करते थे। ए.आर. देसाई ने लिखा है कि 'इन गाँवों का बाहर की दुनिया से कोई सामाजिक, आर्थिक और बौद्धिक संपर्क नहीं था। इसलिए गांव के अधिकांश लोगों का मस्तिष्क पूर्णतः विकसित नहीं हो सका। बाहर की दुनिया से गाँवों का आर्थिक विनिमय भी नहीं के बराबर था। फलस्वरूप गांव की आबादी एक छोटी–सी इकाई बनकर रह गयी थी, जिसकी अपनी एक अलग जिंदगी थी।[7]

भारतीय समाज में तीसरी महत्वपूर्ण लघु–संरचना ग्राम समुदाय है। भारतीय ग्राम समुदायों पर आरम्भिक साहित्य जैसे कि मेने, बैडेन, पॉवल, कार्ल मार्क्स, आल्टेकर, राधाकमल मुखर्जी,[8] आदि का, भारत में गाँवों के लिए एक अर्द्ध–स्वायत्त (Semi-autonomous) या स्वतंत्र संरचनात्मक महत्व ग्रहण कर लेता है। सी.टी. मेटकाफ का यह कथन प्रेक्षण कि ''ग्राम समुदाय लघु गणतंत्र हैं, जिनमें लगभग वह सभी कुछ है जिसे वे अपने बीच चाहते हैं और लगभग किसी भी प्रकार के बाहरी सम्बन्धों (Foreign relations) से स्वतन्त्र है''[9] एक शास्त्रीय सूत्र बन गया है। बाद में, राष्ट्रीय नेताओं, विशेषतः महात्मा गाँधी, ने भारतीय समाज की अधि–संरचना (Supestructure) की आरम्भिक सवायवी इकाई के रूप में आत्म निर्भर, नैतिक एवं आर्थिक रूप से एकीकृत ग्राम समुदाय की विचारधारा को सम्पुष्ट किया। इस प्रकार लघु–संरचना के रूप में गाँव को न केवल मान्यता मिली, अपितु क्रमिक रूप से यह राष्ट्रीय विकास नियोजन (National Developmental Planning) तथा राजनैतिक– सांस्कृतिक चेतना का एक अत्यावश्यक पक्ष बन गया।[10]

ग्राम समुदायों का अध्ययन भारतीय समाजशास्त्र एवं सामाजिक मानवशास्त्र में एक स्थापित परम्परा भी बन गया है, यद्यपि यदाकदा इन समुदायों की समाजशास्त्रीय वास्तविकता अथवा संरचनात्मक स्वायत्तता पर विवाद छिड़ जाते है। कुछ वर्षों पूर्व भारत में गाँवों को समाजशास्त्रीय लघु जगतों (microcosm) की तरह मानने पर लुई ड्यूमाँ ने तगड़ी आपत्ति की। उन्होंने लिखाः ''हमें पूछा जाता है कि एक भारतीय गाँव किस हद तक एक लघु जगत (microcosm) है जो

भारतीय सभ्यता के लघु जगत (microcosm) को बिम्बित करता है? परन्तु भारत, समाजशास्त्रीय रूप से कहा जाए तो, गाँवों से नहीं बना हैं। यह सत्य है कि गाँव का विचार भारतीय साहित्य एवं विचार में विद्यमान है और बेखबर समाजशास्त्री अथवा ग्रामीण अथवा आधुनिक भारतीय राजनीतिज्ञ को प्रभावित कर सकता है। गाँव को सभ्यता के विपरीत खड़ा करने से एकदम गाँव को समाजशास्त्रीय वास्तविकता दिया जाना है जो कि इसी प्रकार के समान समूह अन्यत्र हो सकते हैं तथा प्रतीतियों (Appearance) से धोखा खा सकते है.....। भारतीय समाज में गाँव का विचार, महात्मा गाँधी द्वारा इसकी सम्पुष्टि (reinforcement) आरम्भिक सरकारी अधिकारियों के व्यावहारिक हितों तथा मानवशास्त्रीय पद्धतियों के प्रभाव ने विश्व में अन्यत्र इस मूलभूत मान्यता को पैदा कर दिया कि भारतीय समाज को समझने की कुंजी गाँव में निहित है।[11] वस्तुतः भारत में गाँव भौगोलिक (territorial) 'राजनैतिक' नातेदारी तथा आर्थिक एकता की भावना जैसे संरचनात्मक एकता के अनेक तत्व दर्शाते हैं। हेनरी ऑरेन्सटाइन ने कहा कि भौगोलिक रूप से सुसम्बद्ध इकाई के तौर पर ग्राम समुदाय का अस्तित्व अभी भी बना हुआ है। अनेक अवसरों पर ग्राम–अस्मिता की भावना जातिगत निष्ठा के परे चली जाती है, जबकि किसी गाँव को जातिगत निष्ठा बांटती है। गाँव नामक जिस ग्राम का उसने अध्ययन किया, उसमें अनेक महत्वपूर्ण ग्राम स्तरीय कर्मकांड है जिसमें सभी लोग सहयोग एवं सहभागिता करते है। जब गाँव के पहलवान अन्य गाँवों के पहलवानों से कुश्ती लड़ते हैं (गाँव में ये पहलवान अछूत है), तो ग्राम के राजपूत अपने ग्राम के पहलवानों का हौसला बढ़ाते है, यह तब भी होता है जब प्रतिद्वंद्वी राजपूत होते है।[12] वे यह भी बताते हैं कि गाँव में अनेक कारक, जैसे कि पड़ोस, मित्रता, भूमि की संसक्ति (contiguity), विभिन्न जातियों के सदस्यों को समीप लाते हैं तथा उन्हें एक सुसम्बद्ध समूह में एकीकृत करते है।[13] इसका अर्थ यह नहीं है कि जाति से जुड़े विभाजक कारक काम नहीं करते, परन्तु इनका ग्राम स्तर की एकता की भावना के साथ सह–अस्तित्व होता है।

भारतीय गाँव खासकर उत्तर भारत के गाँव की जो संरचना है, वह वर्ण और जाति केन्द्रित है, जिन्होंने लम्बे समय तक रूढ़िवादी मूल्यों को जकड़ रखा है। यह

एक ऐसी प्रथा है, जिसमें जन्म से ही व्यक्ति का सामाजिक स्थान निर्धारित हो जाता है, चाहे वह कितना भी योग्य क्यों न हो अथवा उसके पास अथाह संपत्ति ही क्यों न हो। इस प्रथा के कारण भारतीय गाँव का 'सामाजिक प्रपीड़न इतना अमानवीय हो गया था कि निम्नतम स्तर के कुछ लोगों को अछूत तथा निकृष्ट मान लिया गया था।[14] गाँवों में जारी जजमानी प्रथा भी इस व्यवस्था को बनाये रखने में मदद करती है। इस प्रथा ने निम्न जाति के लोगों के अंदर ऐसी भावना पैदा कर दी है कि कुछ जातियों का उदय ही संरक्षक अथवा मालिक की भूमिका निभाने के लिए हुआ है तथा कुछ की सेवा के लिए।[15] स्पष्टतः ब्राह्मणों द्वारा बनाई हुई यह व्यवस्था ग्रामीण जीवन की पूरी संरचना में लोगों के बची 'अलगाव' की भूमिका निभाती है तथा कुछ जातियों को श्रेष्ठ बताती है तो कुछ को निम्न। परिणामतः गाँव में हो रहे किसी भी गतिविधियों को लेकर पूरा ग्रामीण समुदाय जाति और वर्ण के आधार पर दो भागों में बंट जाता है तथा न चाहते हुए भी आर्थिक रूप से कमजोर जातियाँ अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समर्थ जातियों की गुलाम बनने पर विवश हो जाती है। उनकी यह मजबूरी होती है कि प्रभुवर्ग की सेवा करते हुए अपना सबकुछ उनपर न्योछावर कर दें। इस व्यवस्था से प्रभुवर्ग को लाभ होता–तो ही है, साथ–साथ उसका वर्चस्व भी पूरी ग्राम व्यवस्था पर बना रहता है।[16] देश की आज़ादी के बाद ग्रामीण जीवन की संरचना में बदलाव आया। शिक्षा के कारण ज्ञान और आत्मसम्मान का विकास हुआ तथा गाँव के लोगों की आर्थिक स्थिति थोड़ी मजबूत हुई है।

शहर की संरचना को 'बाजार' प्रभावित करता है, जबकि गाँव की संरचना को 'संस्कृति' प्रभावित करती है, जिसमें धर्म और धर्म केन्द्रित एवं धर्म और सम्प्रदाय केन्द्रित सामाजिक व्यवस्था की बड़ी भूमिका होती है। 'बाजार' ने ही शहरों में औद्योगिकीकरण और पूंजीवाद को जन्म दिया है, जिससे शहरों में शिक्षा, स्वास्थ्य, उद्योग–धंधे, यातायात, संचार–व्यवस्था आदि क्षेत्रों में विकास को बढ़ावा मिला है। रोजगार के बढ़ते अवसर ने ही लोगों को गाँव छोड़ने पर बाध्य किया है परन्तु गाँव की संरचना 'बाजार' से बिल्कुल अलग दिखाई देती है। गाँव का समाज अपनी संस्कृति से अनुप्राणित होता है। ग्रामीण कलाएँ, पर्व, त्योहार, संस्कार, रूढ़ियाँ,

प्रथायें, रीति–रिवाज आदि विभिन्न अवयवों के येाग से संस्कृति बनती है। ये अवयव ग्राम्य–जीवन में व्यवस्था एवं अनुशासन के आवश्यक तत्व है तथा ग्रामीणों में घुले–मिले हैं। वे अपनी परम्परागत मान्यताओं तथा विश्वास को नहीं छोड़ सकते हैं। यही विशेषताएँ ग्रामीण समाज को नगरीय समाज से भिन्न करती है। आधुनिकीकरण और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में जहाँ नगरीय समाज अपनी सभ्यता–संस्कृति और अपने अस्तित्व को खोता जा रहा है, वही ग्रामीण समाज में उसकी खुद की परम्पराएँ, संस्कार, लोक–कथाएँ आज भी जीवन्त दिखाई देती है।

1.2 गाँव की सामाजिक जिंदगी

भारतीय गाँव की भौतिक संरचना की कुछ मूलभूत विशेषताएँ होती हैं जिनमें सामुदायिक भवन, पंचायत भवन, ग्राम कचहरी, मंदिर, कुएँ तालाब, पोस्ट ऑफिस, अस्पताल, कच्ची–पक्की सड़कें, मकान, गलियाँ, खेत एवं खलिहान आदि होते हैं। सामुदायिकता की भावना गाँव की मुख्य विशेषता है। समय–समय पर मेले और बाजार भी लगाए जाते हैं। गाँव की सामाजिक संरचना की ओर ध्यान दे तो इसकी भी कई मूलभूत विशेषताएँ होती हैं। इसकी पहली विशेषता है परिवार। समाजशास्त्री एन. के. शुक्ल लिखते हैं– ''द विलेज एक्जिविस्ट्स ए नम्बर ऑफ सैलिएन्ट फिचर्स ऐज पार्ट ऑफ इट्स सोशल स्टक्चर। द फर्स्ट एण्ड द मोस्ट इंपोर्टेन्ट इज द फैमिली, न्यूक्लियर और कम्पाउंड। विज इज द बेसिक सोसायटी ऑफ द कम्यूनिटी।[17] अर्थात् गाँव की सामाजिक संरचना की कुछ विशेषताएँ होती हैं, संयुक्त या एकल परिवार उनमें सबसे प्रमुख है जो समाज का मुख्य आधार होता है। परिवार के प्रत्येक सदस्य का कुछ न कुछ कार्य होता है। सभी एक दूसरे के पूरक होते हैं, जो गाँव की सामाजिक संरचना का निर्माण करते है। दूसरी मुख्य विशेषता होती है– जाति व्यवस्था। यह काफी सुदृढ़ होती है जो यहाँ के लोगों के कार्य और व्यवहार को सुनिश्चित करती है। जाति आनुवंशिक होती है जो व्यक्ति के सामाजिक स्तर का संकेत करती है। गाँव की जाति व्यवस्था के बारे में एन.के. शुक्ल लिखते हैं– ''इट सर्वस् ऐज एन एजेंसी ऑफ ट्रॉसमिटिंग कल्चर एण्ड स्किलस् पिकुलियर टु विच आर ऑलसो टाइट सेपरेट ऑकुपेशन।''[18] अर्थात् यह संस्कृति और कार्य कुशलता का वाहक होता है जो अलग–अलग पेशे से जुड़ा होता

है। स्पष्ट है कि जाति अपने व्यवसाय को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को सौंपती जाती है। हर जाति अपने कार्य में दक्ष होती है। प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय गाँवों की अपनी एक सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवस्था थी, जिसके कारण ये पूरी तरह से आत्मनिर्भर थे। ए.आर. देसाई लिखते हैं कि ''विभिन्न जातियों में बंटे होने के कारण इन गाँवों में व्यक्तिगत पहल शक्ति, दुस्साहस की भावना और नये रास्ते की खोज करने की आकांक्षा को कोई प्रश्रय नहीं मिल सका। जातिप्रथा को दैवी विधान मानकर इसके सारे प्रतिबंधों और प्रतिरोधों के सामने गाँव वाले आज्ञाकारी की तरह नत मस्तक थे और ग्रामीण जीवन की सामाजिक और आर्थिक संरचना में ईश्वरकृत जाति–प्रथा, उनका जो स्थान और कर्म नियत कर देती थी, उसे निश्चित रूप से मान लेते थे।''[19]

गाँवों में अंतर्जातीय सम्बन्ध केवल प्रभुता के सम्बन्ध से नियंत्रित नहीं होते अपितु पारस्परिकता के सम्बन्ध से भी नियंत्रित होते हैं। गाँव में इस प्रघटना का जो संस्था उदाहरण पेश करती है वह जजमानी प्रथा है, इसे भारत के विभिन्न क्षेत्रों में बलूटा, आया, मिलन्द, आदि नामों से भी जाना जाता है। यह संस्था जातियों की अंतनिर्भरता तथा आर्थिक एवं कर्मकांडीय पारस्परिकता के केन्द्र में है जो कि उन्हें प्रभुता (dominance) से लेकर पारम्परिकता (reciprocity) तक के सम्बन्धों में बांधती है। जजमानी व्यवस्था की प्रकार्यशीलता पर वाइजर, दुबे, ओपलर तथा सिंह एवं के ईश्वरन के अध्ययन इंगित करते हैं कि जजमानी भूमिकाएं जातियों को सुसम्बद्ध सम्बन्धों में बांधती है। यह बात गाँव के बारे में सत्य है जहाँ बलूटा व्यवस्था (जजमानी) ग्रामीणों को पारम्परिकता के सम्बन्ध में बाँधती है। तथापि, जजमानी व्यवस्था के फलस्वरूप ग्राम एकात्मकता तथा अंतर्समूही सम्बन्धों में पारस्परिकता ईश्वरन द्वारा अध्ययन किए गए शिवाफर में देखा जा सकता है, जहाँ आया की संस्था (जजमानी) ग्रामीणों को सुसम्बद्ध नैतिक व्यवस्था में परस्पर बांधते हैं।[20] के. ईश्वरन लिखते हैं, ''आया (जजमानी) व्यवस्था आधुनिक प्रकार की किसी समानतावादी विचारधारा पर आधारित नहीं है, अपितु यह एक ऐसे विचार पर आधारित है, जिसमें सम्पूर्ण सामुदायिक जीवन के ड्रामा (नाटक) में प्रत्येक के निभाने हेतु एक भूमिका है। प्रत्येक भूमिका सरल नहीं है, निष्कर्षतः, व्यवस्था का

संतुलन इस ढंग से बनाये रखा जाता है कि जब आर्थिक जैसी, किसी शक्ति का वर्चस्व होता है, तब इसकी प्रतिक्रिया में धार्मिक अथवा सामाजिक, अन्य प्रकार की शक्तियाँ स्वयं पैदा हो जाती है।''[21] तथापि, सभी गाँवों में, जजमानी व्यवस्था उतनी पारस्परिक नहीं होती जितनी ईश्वरन ने वर्णित की है। भारत में अनेक ग्रामों में इस प्रकार के सम्बन्धों में प्रभु जातियाँ शक्ति का संतुलन अपने पक्ष में झुका लेती है।[22]

गाँव में विभिन्न जाति के लोग एक समूह में रहना पसंद करते है। हर जाति का अपना टोला होता है। दलित जातियाँ गाँव के बाहर रहती है। प्रसिद्ध हिन्दी उपन्यास 'मैला आँचल' में रेणु ने जो एक अंचल की संरचना में जाति की भूमिका का संकेत किया था, वह गाँव के अध्ययन के लिए काफी महत्वपूर्ण है। बिहार के बक्सर जिले के गाँव उनबास के अध्ययन पर जी.आर. सहाय ने इस गाँव के जातीय संरचना के बारे में लिखा है– ''द विलेज विच अपियर ऐज ए कॉमपैक्ट यूनिट फ्रोम आउट साईड, रिविल फेयरली क्लियर डिविजन व्हेन इक्जामिंड फ्रोम विदिन, पार्टिकुलरली ऑन दे बेसिस ऑफ कास्ट। जेनेरली मेम्बर्स ऑफ ए पार्टिकुलर कास्ट लिव टुगेदर।''[23] अर्थात् गाँव जो बाहर से एक संयुक्त इकाई के रूप में दिखाई पड़ता है, अंदर से देखने पर जातियों में विभाजित नजर आता है। सामान्यतः विशिष्ट जाति के लोग एक साथ निवास करते हैं। भारत के अन्य गाँवों में भी कमोबेश ऐसी ही जातीय संरचना मिलेगी। अतः कह सकते हैं कि जाति इस सामाजिक संरचना का एक मुख्य अंग है। तीसरी मुख्य विशेषता है– ग्राम पंचायत। गाँव की सामाजिक संरचना का यह मुख्य व्यवस्थापक होती है। लोकतंत्र को जमीनी स्तर पर पहुँचाने के लिए यह संस्था काफी महत्वपूर्ण है। यह लोगों के विवादों को सुलझाने के साथ ही कई विकासात्मक कार्य भी करती है। संजीव की 'प्रेरणास्रोत' इसी पंचायती राज की कहानी कहती है। चौथी विशेषता है– विभिन्न रूढ़ियाँ एवं पर्व त्योहार। गाँव अपने धर्म ओर संस्कृति के साथ मजबूती से जुड़ा होता है। विभिन्न उत्सव एवं समारोह इनके जीवन में रंग भरते हैं एवं इनमें सामुदायिकता की भावना का सूत्रपात करते हैं। गाँव के लोग अपनी पम्परा के प्रति गहरी आस्था रखते हैं। पाँचवी विशेषता होती है– गाँव की अर्थव्यवस्था। गाँव के लोगों का मुख्य पेशा होता है कृषि, पशुपालन, मत्स्यपालन, सूतीवस्त्र उद्योग,

हस्तशिल्प, कुटीर उद्योग आदि। यहाँ विभिन्न अनाजों के अलावा आजीविका के तमाम सामान मिल जाते हैं इसी कारण इसे आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था भी कहते हैं। ग्रामीण जनसंख्या का एक बड़ा हिस्सा खेती में लगा होता है जो इसे शहरों से अलग करता है। शहर की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार उद्योग एवं द्वितीयक कार्य होते हैं जो गाँवों के उत्पाद का पुनर्संस्करण कर नए उत्पाद बनाते हैं। गाँव में कृषि से लोग दो रूपों में जुड़े होते हैं। एक वर्ग होता है मालिकों का तथा दूसरा वर्ग होता है मजदूरों का। मजदूरों के पास अपनी खेती नहीं होती। वहीं कुछ छोटे सीमांत किसान होते हैं जो अपनी छोटी सी भूमि पर खुद ही खेती करते हैं। इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि गाँवों में कृषि भूमि के साथ व्यक्ति का संबंध इसकी सामाजिक संरचना को विशिष्ट रूप प्रदान करता है। गाँव की सामाजिक संरचना की अन्य विशेषताओं में वहाँ की शिक्षा एवं स्वास्थ्य व्यवस्था, शिल्प एवं कला को देखा जा सकता है।

आधुनिक भारत में ग्रामीण समुदाय के ऊपर कई विद्वान ने अध्ययन किए हैं जिनमें मुनरो, मेटकॉफ, मार्क्स, एम.एन. श्री निवास, के.एल.शर्मा, एस. सी. दुबे, ए. आर. देसाई, जी.आर. सहाय आदि प्रमुख हैं। विदेशी विद्वानों ने भारतीय ग्राम को बंद और पृथक व्यवस्था की संज्ञा दी। मेटकॉफ लिखते हैं, 'ग्रामीण समुदाय लघु गणतंत्र है उनमें उनकी आवश्यकताओं की लगभग सभी वस्तुएँ पायी जाती है और वे सभी विदेशी संबंधों लगभग स्वतंत्र है।'[24] 'मार्क्स' ने भी भारत के विषय में अपना चिंतन करते हुए इस बात की ओर संकेत किया था कि 'भारतीय गाँव एक बंद ग्रामीण समाज है, जिसमें 'आर्थिक तत्त्वों का ढाँचा, उत्पादन की सरलता के कारण राजनीतिक क्षितिज पर घुमड़ते तूफानी बादलों से अछूता रह जाते है।'[25] किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है, भारतीय ग्राम बंद और पृथक व्यवस्था नहीं है। नगरों तथा ग्रामों के बीच परस्पर क्रियाएँ होती रही हैं। ग्रामीण समुदाय के लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु शहरों पर निर्भर रहे हैं। ग्रामीण समाज में जजमानी प्रथा विभिन्न जातियों के बीच सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक संबंधों की व्यवस्था रही है। इस प्रथा में कुछ जातियाँ संरक्षक या मालिक की भूमिका निभाती हैं और कुछ सेवा करने वाली जातियाँ होती हैं। सेवक जातियाँ उच्च भू–स्वामियों

की सेवा करती है और उसके बदले में नकद और अन्य किस्म के प्रतिफल करती हैं। कभी–कभी विशेष त्यौहारों और विशेष अवसरो पर जजमान इन्हें इनाम और उपहार भी दिया करते हैं। किन्तु शहरों के साथ संपर्क, शिक्षा, प्रवसन, सामाजिक–सांस्कृतिक चेतना के कारण जजमानी प्रथा कमजोर हुई है।

प्रत्येक ग्राम में अनेक जातियों के लोग निवास करते हैं। एम.एन. श्रीनिवास कहते हैं– ''जाति आज भी एक प्रबल संस्थान है, दूसरी जातिवालों से रोटी–बेटी के संबंध वर्जित होने के कारण किसी गाँव के रहने वाले एक जाति के कई लोग महत्वपूर्ण बंधनों से, दूसरे गाँवों में रहने वाले अपने सजातीयों से बंधे होते हैं। ये बंधन इतने मजबूत हैं कि कुछ नृवंशशास्त्री यह दावा तक करते हैं कि गाँव की एकता मिथक मात्र है और जाति ही सर्वोच्च है।''[26] इन जातियों के बीच कुछ क्षेत्रों में भिन्न–भिन्न प्रकार के संबंध होते हैं किन्तु इसके साथ ही उनके बीच पड़ोसी के संबंध तथा व्यक्तिगत तथा पारिवारिक भिन्नताएँ एवं शत्रुताएँ भी होती हैं। श्यामाचरण दूबे के अनुसार ''गाँव के भीतर अंतर्जातीय तथा अंतरव्यक्तिगत संबंधों के तीन पक्ष विशेष रूप से विचारणीय है– विशिष्ट व्यवसायगत सेवा विनिमय के माध्यम से जातियों की परस्पर निर्भरता, जाति पंचायतों के अतिरिक्त ग्राम पंचायातों की कार्य प्रणाली (जिसमें ग्राम में रहने वाली सभी जातियों का प्रतिनिधित्व होता है), तथा गाँव की गुटबंदी की राजनीति।''[27] अधिकतर जातियों के साथ कोई न कोई वस्तुकला या व्यवसाय जुड़ा है किंतु कुछ व्यवसाय खुले होते हैं जिसे किसी भी जाति का व्यक्ति अपना सकता है। सेवाओं के लिए भुगतान वस्तु के रूप में या नकद अथवा दोनों के रूप में हो सकता है। इस व्यवस्था को समाजशास्त्रीय साहित्य में जजमानी कहा जाता है। इसे आश्रयदाता–आश्रित संबंध भी कहा गया है। गाँव के लोग परम्परागत प्रतिमानों का पालन करते हैं जैसे– कर्मकाण्डीय पवित्रता तथा अपवित्रता, सहभोज के नियम, कठोर जातीय अंतर्विवाह आदि। यातायात के साधानों के विकास के कारण आज गाँव एक दूसरे से तथा शहरों से जुड़ गए हैं। ट्रैक्टर, बिजली की सुविधा, हैंडपंप, टीवी, रेडियो आदि माध्यमों के द्वारा आज गाँवों की तस्वीर बदली है, वहीं शहरों से बढ़ती नजदीकियों ने गाँव की संस्कृति को तेजी से प्रभावित किया है।

ग्रामीण जीवन की संरचना में खेतिहर तथा बंधुआ मजदूरों की जिंदगी किसी 'दास' से कम नहीं होती। फैक्टरी के मजदूर तो एक जगह से दूसरी जगह जाने के लिए स्वतंत्र हैं, पर ये गुलामों की तरह जीने के लिए अभिशप्त। सूदखोरों, महाजनों और जमींदारों के जाल में फँसी इनकी जिंदगी छटपटाकर दम तोड़ने के लिए विवश हो जाती है। यदि हम इनकी दयनीय और त्रासदपूर्ण स्थिति पर गौर करें तो स्पष्टतः पता चलता है कि हिंदू समाज की जाति और वर्ण–व्यवस्था इस स्थिति के लिए सर्वाधिक जिम्मेदार है, क्योंकि खेतिहर और बंधुआ मजदूरों में सबसे ज्यादा संख्या नीची जाति के लोगों की ही है। उसमें भी हरिजन और आदिवासियों की संख्या सर्वाधिक है।[28] आर्थिक रूप से कमजोर होने के कारण एक तो उनके पास खेती वाली उपजाऊ जमीन होती ही नहीं है और यदि होती भी है तो सामंत, जोतदार या धनी किसान में से कोई–न–कोई तिकड़म करके उसे हड़प लेते हैं। यहाँ तक कि इसके लिए इनके घरों को जला डालते हैं। परिणाम यह होता है कि इन्हें फिर अपना घर बनवाने और परिवार का खर्च चलाने के लिए कर्ज लेना पड़ता है। 'अशिक्षित होने के कारण सूदखोर या महाजन इन्हें जिस राशि पर अंगूठे का निशान लगवाते हैं और जो राशि वे पाते हैं, उसमें काफी अंतर होता है। इस राशि को वे आजीवन चुका नहीं पाते हैं।'[29] महाश्वेता देवी ने लिखा है कि 'बिहार के पलामू जिले में इनकी संख्या सर्वाधिक है। इसी प्रकार मध्य प्रदेश, गुजरात, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, आंध्र प्रदेश, कर्नाटक, केरल, महाराष्ट्र आदि सभी राज्यों में बंधुआ मजदूर हैं तथा वे भी दासतापूर्ण जिंदगी गुजार रहे हैं। ये बंधुआ मजदूर खेतों, ईंट–भट्ठों और मालिक के घरों में काम करते हैं तथा उनकी इच्छा के बगैर सरहद से बाहर जाने की इन्हें अनुमति नहीं होती।[30] हिंदू समाज की इसी जाति और वर्ण–भेद की मजबूत दीवार के सहारे इनके मालिक इन्हें सताते हैं। वे यह मानकर चलते हैं कि उनका जन्म इन्हीं ऊँची जातियों की सेवा के लिए हुआ है।[31] दरअसल यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसका जन्म ही शोषण, दमन और उत्पीड़न के लिए हुआ है तथा इसका सीधा संबंध 'अधिनायकवाद और दमनकारी प्रवृत्तियों से है।[32] लेकिन आजादी के बाद जैसे–जैसे उनमें शिक्षा के कारण ज्ञान तथा आत्मसम्मान का विकास हुआ तथा उनकी आर्थिक स्थिति थोड़ी मजबूत हुई– वे अपनी अस्मिता के प्रति और अधिक सचेत हुए तथा सामूहिक रूप से सामंतों ओर

महाजनों के शोषण और दमनपूर्ण रवैये के खिलाफ लड़ने के लिए मैदान में उतर आये हैं।

1.3. गाँव की बदलती हुई अर्थव्यवस्था

हमारा देश कृषि प्रधान देश है जिसकी संस्कृति खेतों और खलिहानों में विकसित हुई है। किन्तु वर्तमान समय में कृषक समाज संकट के दौर से गुजर रहा है। ऐतिहासिक विकास क्रम पर नजर डाले तो स्पष्ट होगा कि अंग्रेजों के आने के पहले किसानों की स्थिति कुछ जगहों पर सूखे की समस्या को छोड़कर लगभग अच्छी रही है, किन्तु अंग्रेजों के शासन काल और आजादी के बाद के समय में भी किसानों की आर्थिक और सामाजिक जिंदगी दुरूह होती गई है। आजादी के पहले का किसान पराधीन भारत में भूखों मरता था और आज का किसान स्वाधीन भारत में भूखों मरता है। किसानों की दयनीय दशा से द्रवित होकर ही साहित्यकारों ने आजादी के पूर्व और आजादी के बाद अनेक कहानियाँ लिखी हैं। आजादी के पूर्व में प्रेमचंद एक सशक्त कहानीकार रहे हैं, जिनकी कहानी 'पूस की रात', 'अलग्योझा', 'कफन', 'सवा सेर गेहूं' आदि किसानों की जिंदगी का जीवित दस्तावेज रही है। महात्मा गाँधी द्वारा किसानों के लिए लड़ी गई लड़ाइयाँ और आंदोलन स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में अविस्मरणीय हैं। ये सभी बात इस बात के संकेत हैं कि कृषक समाज और खेती देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है जिनके टूटने पर पूरा देश लड़खड़ा जाता है। अतः इनकी चिंता लाजमी है।

समाजशास्त्री तरलोक सिंह 'पोवर्टी एण्ड सोशल चेंज' में खेतिहर समुदाय की प्रमुख विशेषताओं के बारे में लिखते हैं– ''पीजेंट विलेजेज इन इंडिया कंस्टीट्यूट ए सिस्टम ऑफ सोसाइटी विद डिस्टिंक्टिव सोशल वैल्यूज एंड इकॉनोमिक करैक्टेस्टिक्स। देयर आर फोर फीचर्स इन देयर स्ट्रक्चर वाइड बीयर पर्टिकुलर्ली ऑन द प्रॉब्लम ऑफ पीजेंट पोवर्टी।''[33] अर्थात् एक खेतिहर ग्राम भारत में जिस समाज का निर्माण करता है उसमें किसानों की चार मुख्य विशेषताएँ होती हैं। उनके अनुसार ये चार प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार हैं– 1. कृषक समदुाय साधारण तकनीक पर आश्रित होता है, कृषि विज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण वैज्ञानिक

शोध के बावजूद सामान्य कृषक इनसे अभी भी दूर है। 2. कृषक समाज वैयक्तिक लघु कृषि पर आश्रित है। 3. कृषक समुदाय का अस्तित्व दो तरह के मुख्य बिंदुओं पर आधारित है जिसमें पहला है– खेती पर उनका स्थायित्व या आनुवांशिक काश्तकारी, दूसरा है– खेतों पर पुत्रों के बीच बराबरी की हिस्सेदारी जो पिता के बाद खेती के बंटवारे से प्राप्त होता है। 4. सदियों से कृषक समाज ग्राम ज्यादा या कम आत्मनिर्भर इकाई रहे हैं जिसमें आर्थिक विकास बंद पड़ा है। एक कृषक समाज ग्राम की संरचना के बारे में तरलोक सिंह का मानना है कि– 'ग्रामीण समुदाय मुख्य रूप से 6 प्रकार के वर्गों द्वारा निर्मित होता है– 1. मालिक, 2. काश्तकार, 3. ग्रामीण श्रमिक/ मजदूर, 4. ग्रामीण कारीगर, 5. महाजन/ साहूकार, 6. दान और आश्रित लोग।'[34] इस तरह से हम देखते हैं कि एक कृषि ग्राम में कुछ प्रमुख तत्व अनिवार्य रूप से रहते हैं जिनमें भूस्वामी, काश्तकार, कृषक, मजदूर, शिल्पकार, महाजन, दुकानदार और दान या धर्म पर निर्भर रहने वाले लोग प्रमुख है। ये सभी एक गाँव की संरचना को पूरा करते है।

ग्रामों की जनसंख्या कृषकों की थी। किसान परिवार पीढ़ी दर पीढ़ी अपनी भूमि पर खेती करते थे। यही ग्राम की संस्कृति थी। इसीलिये ग्राम फरानी तकनीक हल–बैल के आधार पर खेती करते थे। दस्तकार अपने फराने तरह के औजारों से चीजें बनाया करते थे। ग्रामीण समुदायों में भूमि का अधिकार स्पष्ट रूप में ग्राम की सभाओं के साथ जुड़ा हुआ था। ग्राम में उत्पादन विनिमय ग्रामवासियों के बीच ही होता था। ब्रिटिश शासन से पहले गाँवों में व्यक्ति परिवार और जाति ग्राम पंचायत के अधीन थे। उस समय की व्यवस्थाएँ सामंतवादी व्यवस्थाएँ थी और प्रधानतः अपने चरित्र में रहस्यवादी थी। यह इसलिये भी था क्योंकि उस समय की अर्थव्यवस्था निम्न थी, स्थिर थी और निम्न स्तर की थी। सामाजिक दृष्टि से यह कठोर भी थी। जो कुछ भी परिवर्तन थे, वे संख्यात्मक थे, गुणात्मक नहीं।[35] सामंतवादी अर्थव्यवस्था से पूँजीवादी आर्थिक व्यवस्था का रूपान्तरण भारत में ब्रिटिश शासन के कारण हुआ। ब्रिटिश प्रशासन ने व्यापार, उद्योग और वित्त के मामले में जो नीतियाँ अपनाई उनकी प्रकृति पूँजीवादी थी। ब्रिटिश प्रशासन द्वारा अपनाई गई नीतियों ने पुरानी आर्थिक व्यवस्थाओं को ध्वस्त करना प्रारंभ किया। भूमि संबंधों में परिवर्तन और नये

औद्योगिक विकास ने भूमि संबंधों और दस्तकारों के हालात तो बदले ही, साथ ही इसने सामाजिक स्थितियों में भी परिवर्तन कर दिया। एक सामुदायिक आधार के स्थान पर व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना उभर गई। आधुनिक उद्योगों के सामने पुराने दस्तकार समाप्त हो गये। पूंजीपति, कृषि मजदूर, किरायेदार, व्यापारी जैसे नए वर्ग उभरे। इस ब्रिटिश प्रभाव ने भारतीय समाज की स्वायत्तता को भी बदल दिया। भूमि लगान व्यवस्था, कृषि का व्यापारीकरण, भूमि के टुकड़े इत्यादि नये स्वरूप थे। कृषि क्षेत्र में वर्गों का समीकरण प्रारंभ हुआ। गरीबी बढ़ी, भूमि स्वामियों द्वारा शोषण बढ़ा। इससे कृषक सामाजिक व्यवस्था में नये वर्ग जैसे जमींदार, अनुपस्थित भूमिपति और कृषक मजदूर जैसे वर्ग पैदा हुए।[36] स्वतंत्रता के पश्चात्, अनेक सरकार समर्थित विकास तथा सुधार की योजनाएं प्रारम्भ की गई हैं जिसमें गाँव को प्रशासन तथा परिवर्तन पैदा करने वाले मूल्य एवं तकनीकों के संचार की इकाई के तौर पर लिया गया है।

भारत के सभी क्षेत्रों में, आर्थिक संस्थाओं, शक्ति संरचना तथा अंतर्जातीय सम्बन्धों के संदर्भ में गाँव बदल रहे है। आर्थिक परिवर्तन का एक प्रमुख स्रोत भूमि सुधार है, जिसने ग्राम सामाजिक संरचना पर अप्रतिम समाजशास्त्रीय प्रभाव डाला है, यद्यपि इनके आर्थिक प्रभाव विवादास्पद है।[37] गाँव में भूमि सुधारों को इनके माध्यम से प्रारम्भ किया गया है (1) बिचौलियों की समाप्ति (2) खातेदारी सुधार, (3) भूमि के स्वामित्व व भूमि के पुनर्वितरण पर सीमास (4) जोतों का एकीकरण तथा जोतों के अलाभकारी आकार तक खंडित होने से रोकना (5) सहकारी कृषि का विकास व उस पर जोर तथा (6) धनवानों द्वारा निर्धनों को भूदान के तौर पर अतिरिक्त भूमि की भेंट हेतु धार्मिक–आर्थिक आंदोलन।[38]

आरंभिक वर्त्तमान युग पूंजीवादी युग कहलाता है। पूंजीवादी युग की समस्त आस्थाएँ पूँजी तथा सम्पत्ति तक ही सीमित है। अतिरिक्त मूल्य वृद्धि, व्यापार का बढ़ता विस्तार एवं वैज्ञानिक प्रगति के फलस्वरूप पूँजी का महत्व बढ़ता गया। जिस वर्ग के हाथ में पूँजी रही वह वर्ग ही समाज एवं देश का सूत्र संचालन करता रहा। श्रम करने वाले सदैव पीड़ित रहे और सम्पन्न भोग भोगता रहे यह तो पुरातन काल से चलती आई रीति है, किन्तु पूँजीवाद के पूर्व विविध वर्गों के बीच के मानवता के

सम्बन्ध–सूत्र पूर्णतः टूट नहीं चुके थे। व्यवसाय हीन मनुष्य अन्त में गाँव तथा घर–बार छोड़कर पेट की खातिर शहर में आकर श्रमिक बनने को भूहीन एवं मजबूर हुआ। पूँजीपति वर्ग की आमतौर पर अधिक मजबूत स्थिति होती है। कारण कि उसके हाथों में मौजूद बहुत ही वास्तविक शक्ति से बिलकुल अलग, यह बात स्वतः स्पष्ट है कि अपनी ही जमीन पर लड़ने वाला पूँजीपति वर्ग अधिक अनुभवी और अधिक माहिर, दोनों होगा।[39] हर सर्वहारा क्रान्ति ने अधिकाधिक मूलगामी और सचेत ढंग से मजदूरों की परिषदों को जन्म दिया है। जब इस हथियार की धार इतनी तेज हो जाती है कि यह राजसत्ता का अंग बन जाए तो यह संकेत है इसका कि सर्वहारा की वर्गीय चेतना अपने नेताओं की पूँजीवादी दृष्टि को नष्ट करने के कगार तक पहुँच चुकी है।[40] आज सर्वहारा किसान धीरे–धीरे पलायन करेगा या मारा जाएगा; जबकि बड़े किसान पूंजीवादी कृषि का लाभ उठाएँगें और अमीर बनेंगे। वहीं छोटे किसानों की भूमि छिन ली जाएगी या तो कर्ज से या फिर सरकारी अधिग्रहण से। इस प्रकार से गाँव की पूरी संरचना बदल जाएगी। कहने का अभिप्राय यह है कि सरकार की नीति ऐसी है, जिसमें गरीब किसानों को अपनी जान गंवानी होगी। किशन पटनायक खेती की समस्या के बारे में लिखते हैं, ''भारतीय खेती के संकट के तीन आयाम है– पहला–आधुनिक पूंजीवादी विकास में खेती को एक आंतरिक उपनिवेश के रूप में पूंजी निर्माण या शोषण का स्रोत बनाना। दूसरा, हरित क्रांति के भ्रामक नाम से एक अनुपयुक्त, साम्राज्यवादी, किसान विरोधी व प्रकृति विरोधी टेक्नोलॉजी थोपना और तीसरा, ग्लोबीकरण के तहत किसानों पर हमले तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों के कब्जे की प्रक्रिया को और तेज करना। कहने की जरूरत नहीं है कि ये तीनों आयाम एक दूसरे से जुड़े हुए हैं और एक बड़ी प्रक्रिया के ही हिस्से हैं।[41] इस तरह से आज खेती किसानों के शोषण, प्रकृति विरोधी तकनीक तथा विदेशी कंपनियों के आधिपत्य का जरिया बन चुकी है।

देश की जनसंख्या का करीब 70 प्रतिशत लोग जिस खेती में लगे हुए है उनमें से छोटे किसानों और मजदूरों की सामाजिक और आर्थिक स्थिति का पता इस तथ्य से लगता है वर्ष 2003 से मार्च 2007 के मध्य सात राज्यों में 8263

किसानों ने आत्महत्या की। देश में गरीबी और बेरोजगारी का अनुमान लगाने के लिए अर्जुन सेन गुप्त आयोग बैठाया गया था, जिसने यह रिपोर्ट पेश की कि, 'देश के 84 करोड़ लोग प्रतिदिन 20 रूपये में गुजर–बसर करते हैं।'[42] इन रूपयों में आज के दिन में भरपेट भोजन प्राप्त नहीं हो सकता है। जाहिर है निर्धनता सरकारी आँकड़े के अनुसार 28 प्रतिशत से कहीं ज्यादा है। एक अन्य अर्थशास्त्री अशोक मित्र ने माना है कि 'देश में जो आर्थिक विकास हो रहा है उससे सिर्फ दस से पद्रंह प्रतिशत लोगों को ही फायदा हुआ है। बाकी के 85 प्रतिशत वृद्धि से अछूते हैं।'[43]

आज सरकार द्वारा किसानों की दयनीय स्थिति सुधारने के प्रयास नाकाफी साबित हो रहे हैं। वैसे सरकार भी यही सोचती है कि कृषि में विकास दर जहाँ करीब 2 प्रतिशत है वहीं सेवा क्षेत्र और उद्योग में विकास दर लगभग 15 और 9 प्रतिशत है अतः कृषि क्षेत्र में ज्यादा निवेश से देश को फायदा होने वाला नहीं है। पर हाल के दिनों में खाद्यान्न की समस्या और महंगाई से लोगों की आँखें खुली हैं। सरकार की आर्थिक नीतियों में नकदी फसलों को तरजीह देने के कारण किसानों ने खाद्यान्न की जगह व्यावसायिक फसलों को उगाना शुरू किया तथा विशेष आर्थिक क्षेत्र में उपजाऊ भूमि का अधिग्रहण बड़े पैमाने पर किया गया। स्थिति इसी से भयावह हो गई और खाद्यान्न कृषि के अंतर्गत आने वाली भूमि लगातार घटती गई है। 1950–51 में जहाँ खाद्यान्न के अतंर्गत आने वाली भूमि कुल भूमि का 76 प्रतिशत थी वहीं 2000–01 में यह 65 प्रतिशत हो गई। इसके कारण देश का खाद्यान्न संतुलन बिगड़ रहा है।

किसानों और खेतिहर मजदूरों की आत्महत्याओं की घटना जिन राज्यों में ज्यादा घटी है उनमें महाराष्ट्र, आँध्रप्रदेश, करेल, कर्नाटक आदि आते हैं। इन आत्महत्याओं के पीछे किसानों की ऋणग्रस्तता बतायी गयी। इसी कारण से सरकार ने किसानों के कृषि ऋण को माफ करने की घोषणा की। पर ये ऋण माफी किसानों की दयनीय स्थिति को सुधारने के लिए काफी नहीं। एक तो गाँव का अधिकांश लघु किसान महाजनों से कर्ज लेता है जिसे पाने में बैंकों के चक्कर नहीं लगाने पड़ते और दूसरा बुनियादी संकट है, कृषि का लगातार घाटे का सौदा बनता

जाना। कृषि में लागत के अनुसार किसानों को मूल्य वापस नहीं हो पाता। जब फसल अच्छी न हो तो मुसीबत और जब फसल अच्छी हो तो उचित मूल्य न मिल पाने के कारण मुसीबत। नतीजा किसानों की स्थिति दिनोदिन खराब होती जा रही है। सरकार का ध्यान किसानों के ज्यादा से ज्यादा कृषि ऋण देने पर है। किन्तु इसका फायदा सीमांत किसान नहीं उठा सकता। इससे कृषि क्षेत्र में छोटे किसानों को हिस्सा घटा है।

अपने देश में ग्रामीण समुदायों में भूमिहीन खेतिहर मजदूर की संख्या जो आजादी के समय 5 करोड़ थी अब 35 करोड़ हो चुकी है। जाहिर है सरकार इन भूमिहीनो को भूमि देने के लिए कभी दृढ़ संकल्प नहीं हुई। कृषि भूमि का बहुत बड़ा हिस्सा कुछ ही लोगों के पास सुरक्षित है शेष जनता के पास इतनी जमीन नहीं कि अपना भरन–पोषण ठीक से कर सके। अभिप्राय यह है कि हमारे यहाँ भूमि का असमान वितरण भी ग्रामीण समुदाय की आर्थिक दुर्गति का कारण रहा है। भूमि सुधार कार्यक्रम आजादी के बाद से कई राज्यों में ठीक ढंग से लागू नहीं हो पाया है। साथ ही हदबंदी कानून पर भी अमल नहीं किया जा रहा है, जिसके कारण स्थिति भयावह हुई है और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की संख्या लगातार बढ़ती गई है। इस स्थिति की अनदेखी नहीं की जा सकती। देश में भूमि सुधार कानून और गठित आयोगों की कमी नहीं पर उन्हें लागू करने की मंशा केंद्र और राज्य सरकारों की नहीं रही है। केंद्र सरकार कहती है कि यह राज्यों का विषय है। पर वह यह भूल जाती हैं कि भूमि अधिग्रहण केंद्र सरकार के जिम्मे है जिसका लाभ उठाकर ही वह कई कंपनियों को जमीन मुहैया करा रही है, किंतु भूमि पुनर्वितरण केंद्र का दायित्व नहीं है। और राज्य सरकारें जिस तरह से सियासत की राजनीति करती है उसके बारे में क्या कहा जाए? भूमि सुधार की अवहेलना से स्थिति बदतर होती चली गई है। के.एल.शर्मा ने 'रूरल सोसायटी इन इंडिया' में राजस्थान का जिक्र करते हुए भूमि सुधार की खामियों को बताया है। इन्होंने लिखा है– ''यूनिफाइड लेजिस्लेशन फॉर डाइवर्स लैंड टेनुअर सिस्टम हैज नॉट प्रोऊस्ड द एक्सपेक्टेड इकुलाइजेशन ऑफ द लैंडेड ग्रुप्स एण्ड द टेनेंट कल्टीवेटर्स।''[44] अर्थात् काश्तकारी सुधार के लिए बनाए गए एकसमान कानून से भूस्वामियों और काश्तकारों के बीच

आशा के अनुकूल समानता नहीं आ पायी। इनका मानना है कि जागीरदारी, जमीनदारी और रैयतबाड़ी तीनों क्षेत्रों के लिए एक मसान कानून बनाने से भूमि सुधार कानून का फायदा समान रूप से नहीं हुआ है। इसके लिए क्षेत्र विशेष की पहचान करके उसके अनुरूप कानून बनाने की आवश्यकता थी, क्योंकि इन क्षेत्रों में कुछ बुनियादी फर्क है। इसी तरह से अन्य खामियाँ भी रही है। कई जगहों पर राजनीतिक इच्छा शक्ति की कमी के कारण यह लागू नहीं हो सका। वर्तमान दौर में हिंसा की स्थिति और उग्रवाद, असमान विकास का ही नतीजा है। भूमि सुधार के लिए उठाने वाली आवाजों को प्रभुवर्ग और पुलिस प्रशासन की मदद से दबा दिया जाता है। राष्ट्रीय सहारा के संपादकीय लेख के अनुसार ''आजादी के बाद पाँचवे दशक के सामुदायिक विकास कार्यक्रम से लेकर छठे दशक के हरितक्रांति और सातवें दशक के बीस सूत्री कार्यक्रम से लेकर आठवें दशक के नव उपनिवेशवाद प्रेरित योजनाओं तक जारी नीतियों के बावजूद देश के गाँव उपेक्षा के शिकार है और शासक मुगालते में हैं कि अर्थव्यवस्था में अप्रत्याशित उछाल के साथ देश आर्थिक गुरू बस बनने ही वाला है।''[45] जिस क्षेत्र में आजादी का 70 प्रतिशत जनसंख्या लगी हो उस क्षेत्र का आर्थिक विकास महज दो से तीन फीसदी हो तो स्थिति में क्या सुधार हो सकता है, जबकि उद्योग और सेवा क्षेत्र में यह विकास इससे कई गुना ज्यादा हो रहा है।

वस्तुतः भारत में भूमि वितरण का जमीनी खाका ही अन्यायपूर्ण है। ए.एस. कोहलन एक लेख में लिखते हैं– ''द अग्रेरियन स्ट्रक्चर ऑफ इंडियन रूरल इकोनोमी इज सच दैट स्मॉल एण्ड मार्जिनल फर्मर्स कल्टीवेट नियरली 73 परसेंट ऑफ ऑपरेशनल होल्डिग्स अल्दाउ दे हैंडिल ऑनली 23 परसेंट ऑफ कल्टीवेटेड एरिया।''[46] अर्थात् भारतीय अर्थव्यवस्था की कृषि संरचना ऐसी है कि लघु और सीमांत किसान जो करीब 73 प्रतिशत हैं, केवल 23 प्रतिशत भूमि पर खेती करते हैं। यह आँकड़ा असमान भूमि वितरण को स्पष्ट करने के लिए काफी है। भूमिवितरण का एक पहलू यह भी है कि पीढ़ी– दर – पीढ़ी खेती का बंटवारा होते जाने से खेती की जोत छोटी होती गई है, जिससे उत्पादन कम हुआ है और गरीबी बढ़ी है। अतः इस बात को ध्यान में रखते हुए बेकार पड़ी हुई वैसी जमीन

को भूमि पुनर्वितरण के अंतर्गत लानी चाहिए जिसके मालिक वर्षों से उस पर खेती न कर रहे हों और वे गाँव से बाहर अन्य व्यवसाय में लगे हुए हो। दूसरा यह कि सरकारी भूमि पर भी कई भूस्वामियों का अधिकार है, जिसे वापस लेना जरूरी है। इस प्रकार से अच्छी मात्रा में जमीन हासिल की जा सकती है। इतना सब होने के बाद भी सरकार को यह सुनिश्चित अधिक करना चाहिए कि कृषि क्षेत्र में लगे लोगों को कृषि से आर्थिक लाभ हो। इसके लिए कृषि लागत को कम करना चाहिए। कृषि लागत अधिक होने एवं फसल की उचित कीमत न मिलने के कारण भी किसानो की स्थिति दयनीय हुई है। यही वजह है कि किसान आज खेती को घाटे का सौदा समझता है। एम.एस. स्वामीनाथन के शब्दों में कहें तो ''किसानों की आत्महत्याओं पर कई अनुसंधान हुए है, इसका सबसे बड़ा कारण खेती में घाटा और कृषि कार्य के जोखिम है, जिसकी वजह से किसान बुरी तरह कर्जदार हो जाते है। हमारी कृषि के इस बुरे दौर को एक तरफ तो कृषि उपज की मूल्य व्यवस्था और कर्ज सुधारों की जरूरत है दूसरी तरफ इसके मानवीय पक्ष जैसे पीड़ित परिवार की विधवा और बच्चों के लिए पुख्ता व्यवस्था करने जैसी चीजों पर ध्यान देना ही होगा।''[47] जाहिर है वर्षों से चली आ रही व्यवस्था में कुछ खामी जरूर है जिसके चलते देश की इतनी बड़ी आबादी घुटन की जिंदगी जीने को मजबूर है। सरकार द्वारा चलायी जा रही विभिन्न योजनाएँ मसलन रोजगार गांरटी योजना, भारत निर्माण योजना आदि नाकाफी साबित हो रही है, क्योंकि एक ओर तो सरकार किसानों की मदद करना चाह रही है, वहीं दूसरी ओर इनकी जमीनें और रोजगार छीन रही है। आज सरकार कहती है कि गरीबी और भूखमरी केवल औद्योगिक विकास से ही खत्म होगी मगर यह सच नहीं है। कृषि क्षेत्र में जहाँ इतनी बड़ी संख्या (लगभग 70 प्रतिशत) लगी हुई हो। वहाँ उद्योग धंधे में हम कितने करोड़ रोजगार के अवसर पैदा कर सकते हैं? जाहिर है औद्योगिक विकास होने पर कुछ लाखों में ही रोजगार के अवसर पैदा होंगे जो बेकारी मिटाने के लिए नाकाफी होंगे।

1.2 कहानी की दुनिया में गाँव

कहानी की शुरूआत भी कविता और नाटक की तरह लोक–कला से हुई। इसे किस्सा–गोई की परम्परा से संबंध मानते है। आज भी ग्रामीण जीवन में किस्सागोई की परम्परा मौजूद है। किस्सागोई में प्रायः वैसे कथ्य होते हैं जिसमें कल्पना उड़ान ज्यादा होती है और उसी से आनन्दित भी होते हैं। इसके विस्तार फलक को नामवर सिंह ने ''कहानी और फैंटेसी'' में कहानी को कल्पना से जोड़ कर देखने का प्रयास किया है। नामवर सिंह का मानना है कि 'वैसे भी कहानी के साथ अनेक प्रकार की कलाएं दिखाती हैं। कभी वर्षों को समेटकर एक क्षण में बांध देती है, कभी क्षण को खोलकर वर्षों में फैला देती है, कभी समय के दायरे को तोड़ती है, कभी टुकड़ों को जोड़कर एक दायरा बनाती है। कहानी एक वाक्य ' एक राजा था .....'से शुरू हुआ कि नहीं यह एक 'था' मन को उठाकर जाने कहाँ कितनी दूर लेकर उड़ जाता है। कहानी बेपर के उड़ती है और शुरू–शुरू में इसी गुण के कारण हमें पंसद आती है।'[48] फ्रैंक ओ कोन्नोर ने कहानी की विशेषता बताते हुए कहा कि कहानी, कविता और नाटक की अपेक्षा अपनी रूचि के अच्छे तरीके से प्रस्तुत करती है। 'फ्रैंक ओ' कोन्नोर के मत में–प्रारंभिक दौर में कविता और नाटक की तरह कहानी भी एक लोक–कला थी, हालांकि अपनी सीधी–सादी तकनीक के कारण कविता और नाटक की तुलना में यह महत्वपूर्ण नहीं थी। लेकिन उपन्यास की भांति कहानी भी एक आधुनिक कला के रूप में है, अर्थात् जीवन के प्रति हमारे निजी रूझान को यह कविता और नाटक की अपेक्षा अधिक अच्छे ढंग से पेश करती है।[49] कहानी अपने रूप में एक वैसी विद्या है जो किसी एक भाव या घटनाओं को प्रस्तुत करता है। इसको परिभाषित करते हुए प्रेमचंद ने लिखा है– कहानी एक ऐसी रचना है जिसमें जीवन के किसी एक अंग या किसी एक मनोभाव को प्रदर्शित करना ही लेखक का उद्देश्य रहता है। उसके चरित्र, उसकी शैली, उसका कथा–विन्यास सभी एक भाव को पुष्ट करते हैं।[50] इसके आगे प्रेमचंद कहानी की तुलना उपन्यास से करते हुए लिखते हैं कि– उपन्यास की भांति कहानी में मानव का एक सम्पूर्ण वृहत् रूप दिखाने का प्रयास नहीं किया जाता न उसमें उपन्यास की भांति सभी रसों का मिश्रण होता है, वह ऐसा रमणीय उद्यान नहीं

जिसमें भांति–भांति के फूल, बेल–बूटे सजे हुए हैं, बल्कि वह एक गमला है जिसमें एक ही पौधे का माधुर्य अपने समुन्नत रूप में दृष्टिगोचर होता है।[51] उपन्यास जहाँ जीवन की संपूर्णता से लेखक का सरोकार है वहाँ कहानी के कोई एक भाव, घटना या चरित्र का कोई मार्मिक प्रसंग होता है। जे. वर्ग इसेंविन ने कहानी को परिभाषित करते हुए उन्होंने भी इस बात को स्वीकार किया है कि कहानी एक प्रधान घटना एवं एक कथा वस्तु का सूक्ष्म संगठित रूप होता है जो कि पाठकों पर एक निश्चित प्रभाव छोड़ता है। जे. वर्ग इसेंविन के विचार इस प्रकार है– कहानी एक संक्षिप्त कसावपूर्ण कल्पना प्रसूत विवरण है जिसमें एक घटना होती है और एक प्रमुख पात्र होता है। इसमें एक कथा–वस्तु होती हैं जिसका विवरण इतना सूक्ष्म तथा निरूपण इतना संगठित होता है कि वह पाठकों पर एक निश्चित प्रभाव छोड़ता है।[52] इस तरह कहानी की कई विशिष्टताएं उभर कर समाने आती है जिसमें एक प्रधान घटना, एक प्रमुख चरित्र, कल्पना, कथावस्तु कसाव, पाठकों पर प्रभाव डालने में समर्थ है।

स्वाधीनता के पूर्व की हिंदी कहानी अनेक दिशाओं में अपना विस्तार करती हैं। यहाँ सामंती जीवन की विविध स्थितियाँ और दशाएँ है। अंग्रेजीराज की स्थितियाँ और उनसे संघर्ष है, समाज के विविध वर्ग हैं, ग्राम और नगर जीवन की भयावहताएँ है। कुल मिलाकर कहानी जीवन की समग्र अभिव्यक्ति का एक समर्थ माध्यम है। स्वाधीन भारत अपने जन्म के साथ अनेक विसंगतियाँ और घटनाएँ लाता है। विभाजन की त्रासदी और साम्प्रदायिक दंगे, देश के भीतर की अनेक घटनाएँ और नए राष्ट्र के निर्माण का स्वप्न और संकल्प, विकास की नई–नई योजनाएँ नई रचनाशीलता को भी प्रभावित करती है। इस पृष्ठभूमि में कहानी को आंदोलन का रूप मिलता है। कहानी में यह नई घटना है। कविता में आंदोलन अवश्य थे पर कहानी सहज रूप से विकास पा रही थी। नई कहानी एक आंदोलन के एक नए परिवर्तन से युक्त होकर अपनी पहचान बनाती है। नई कहानी में व्यक्ति और समाज, गाँव और नगर, देश और विदेश एक साथ उपस्थित होते हैं। विविध विचार–दर्शन एक साथ रचना के प्रेरक बनते हैं। वस्तुतः नई कहानी को परम्परा के अर्जन की कहानी भी कहा गया है। यहाँ परम्परा और परिवर्तन को अलग–अलग

रूप से नहीं देखा जा सकता। एक तरफ निर्मल वर्मा, कमलेश्वर, राजेंद्र यादव, मोहन राकेश आदि की कहानियाँ हैं तो दूसरी ओर हरिशंकर परसाई, अमरकांत, भीष्म साहनी, शेखर जोशी, शिवप्रसाद सिंह, धर्मवीर भारती, रेणु, मन्नू भंडारी और उषा प्रियंवदा आदि की कहानियाँ। वस्तुतः नई कहानी परम्परा का ही एक चरण है। उसमें विशिष्ट जीवन की धड़कने भी मौजूद हैं और आंचलिकता के रूप में पूर्व परम्पराओं का विस्तार–विकास भी देखने को मिलता है। नवीनता के नाम पर स्त्री–पुरूषसंबंधों के जिन आवेगों को नई कहानी और उसके बाद की कहानी में चटपटे रूप में प्रस्तुत किया गया, उसे अश्क, मणिका मोहिनी, कृष्णा सोबती आदि की कहानियों में बखूबी देखा जा सकता है। रांगेय राघव की 'गदल' कहानी को प्रेमचंद की परम्परा में ग्रामीण परिवेश तथा सामाजिक संरचना के संदर्भ में विशिष्ट कहानी कहा जा सकता है।[53]

हिन्दी कहानी में आंदोलनों की शुरूआत नई कहानी आंदोलन से होती है। रचनाकार और आलोचकों, दोनों की प्रभावी भूमिका ने कहानी को प्रतिष्ठा प्रदान की। नई कहानी के पश्चात् कहानी में आंदोलनों की बाढ़ सी आ गई, भले ही वे अल्पायु सिद्ध हुए हों। नई कहानी वस्तुतः आलोचना से आया नाम है और बाद में नए की व्याख्या सभी ने की। महीप सिंह ने सचेतन कहानी के द्वारा अस्तित्ववादी दर्शन का विरोध और मनुष्य की सार्थकता की प्रतिष्ठा का प्रयत्न किया। अकहानी आंदोलन भी नई कहानी आंदोलन के प्रवक्ताओं की देन है। गंगाप्रसाद विमल और रवींद्र कालिया इसके सूत्रधार रहे। अकहानी को वस्तुतः यथार्थ विरोधी पश्चिम के ह्रासशील समाज की देन कहा जाता है। समांतर कहानी को कमलेश्वर ने आम आदमी की आवाज कहा, पर कमलेश्वर के सारिका से अलग होते ही यह आंदोलन समाप्त हो गया। इन आंदोलनों में कहानी को सिद्धांतों के चौखटे में सीमित किया गया। इतिहास की दृष्टि से इन आंदोलनों का अपना महत्व है।[54]

आज समकालीन कहानी में एक स्थायित्व देखने को मिलता है क्योंकि समकालीन कहानी में वाद, मत–मतांतर और सिद्धांतों, विचारधाराओं का झगड़ा नहीं है यहाँ मौजूदा समस्याएँ और चुनौतियाँ ही रचना का विषय है। आज दलित विमर्श और स्त्री विमर्श का स्वर प्रबल हुआ है। परन्तु समकालीन कहानी में अन्य प्रवृत्तियाँ

भी हैं, जिन्हें महत्वपूर्ण माना जा सकता है। साम्प्रदायिकता से रचनाकार संघर्ष कर रहे है। पश्चिम की मान्यताओं के स्थान पर हम अपनी परम्परा को आत्मसात कर ही कहानी की संभावनाओं का विस्तार कर सकते हैं,यह बात समकालीन कहानीकार अच्छी तरह से जानता है। स्वंय प्रकाश, हृदेयश, असगर वजाहत, उदय प्रकाश,संजीव, अखिलेश, हरि भटनागर, महेश कटारे, सृंजय, नमिता सिंह, मैत्रेयी पुष्पा, अलका सरावगी आदि की कहानियाँ समकालीन कहानी परिदृश्य में अपनी पहचान रखती हैं।[55]

1.2.1 कहानी का प्रथम काल (प्रांरभ से 1918 तक)

कहानी मानव–जीवन के व्यापक संदर्भों एवं जीवन यथार्थ के विविध आयामों से शक्ति प्राप्त करती है। स्वतंत्रता–पूर्व के साहित्य में कविता, नाटक, उपन्यास तथा साहित्य की सभी विधाओं में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ। किंतु कहानी की अपनी लाघव, अत्याधिक संवेदनशीलता एवं सम्प्रेषणीयता के कारण तत्कालीन समाज के अत्यधिक घटनापूर्ण गतिशील जीवन के यथार्थ के अवलोकन ग्रहण एवं चित्रण में अभूतपूर्व सफलता मिली। हिन्दी कहानी का विकास भी इसी काल में सम्भव हुआ। कहानी की संरचना में समाज के लघु काल खण्डों, संदर्भों अथवा घटनाओं द्वारा एक बाहरी ढाँचा खड़ा हुआ। इसके केन्द्र में है एक विचार या भाव (जो प्रायः नैतिक होता है) होता है और यही बिन्दु कहानी की बुनावट और बनावट को नियन्त्रित करता हुआ अपनी ओर खींचता है और सारी कथा इसी बिन्दु पर पहुँचकर दीप्तिमान हो उठता है, और बिन्दु चमक है, जो यथार्थ के तनावों के भीतर से गुजरता हुआ स्थापित होना चाहता है।'[56]

हिन्दी कहानी के आविर्भाव की दृष्टि से सन् 1900 में प्रकाशित 'सरस्वती' के भूमिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। आरंभ में लिखी हुई कहानियों में कुछ शेक्सपियर के नाटकों के आधार पर, कुछ बंगला कहानियों को रूपांतरित करके कुछ लोककथाओं से प्रेरणा लेकर और जीवन की वास्तविक घटनाओं की दृष्टि में रखकर प्रस्तुत की गई। आरम्भिक लेखकों में माधव राव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' (1901) भगवान दास की 'प्लेग की चुड़ैल' (1902), पं· गिरिजा दत्त वाजपेयी

की 'पंडित और पंडितातानी', आचार्य रामचंद्र शुक्ल की 'ग्यारह वर्ष का समय' (1903), लाला पार्वती नंदन की 'बिजली' (1904), 'मेरी चंपा' (1905) और बंग महिला की 'दुलाई वाली' (1907) आदि प्रमुख है।'[57] माधवरावराज सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' भारतीय गाँवों की संरचना पर लिखित पहली ऐसी कहानी है, जिसमें एक मजदूर महिला के बहाने गाँव में सामंती व्यवस्था को समझाने में मदद करता है। यह वस्तुतः वह दौर है, जब कहानी को एक स्वतंत्र– विद्या के रूप में एक दोहरी लड़ाई लड़नी पड़ती है। यह लड़ाई एक ओर उसके अस्तित्व की है और दूसरी ओर उसकी प्रतिष्ठा की। सामाजिक प्रभाव की दृष्टि से कहानी को न सिर्फ उपेक्षणीय बल्कि युवाओं को बिगाड़ने वाली चीज माना जाता था। इसी कारण माधवराव सप्रे की 'एक टोकरी भर मिट्टी' जब अर्से बाद, एक तरह से कहानी के रूप में, प्रकाश में आई तो लोगों ने उसे हिन्दी कहानी की यथार्थवादी परम्परा के सूत्रपात का श्रेय दिया।'[58] इसी दशक के अंत में वृन्दावनलाल वर्मा की भी दो कहानियाँ 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई– ''राखीनन्द भाई' ओर 'तातार और एक वीर राजपूत'। ये कहानियाँ हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल देती है जो स्वाधीनता आंदोलन की दृष्टि से 'सरस्वती' का परिवर्तित परिणाम था।''[59]

हिन्दी कहानी के विकास की दृष्टि से इस शताब्दी के दूसरे दशक का ऐतिहासिक महत्त्व है। यहाँ हिन्दी कहानी को दो समानांतर धाराओं के रूप में रेखांकित करने की एक परिपाटी से विकसित हुई– समाजपरक यथार्थवादी कहानियों की धारा और भाववादी व्यक्तिवादी कहानियों की धारा का सूत्रपात इसी दशक में हुआ। सन् 1910 में प्रसाद जी का 'प्रेमपथिक' प्रकाशित हुआ। 'इंदु' में प्रकाशित होती रही उनकी कहानियों का पहला संग्रह 'छाया' 'सन्' '1912' में प्रकाशित हुआ।'[60] उनकी अधिकतर कहानियाँ जैसेः– 'तानसेन', 'रसिया बेगम, 'अशोक', 'गुलाम' आदि ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर रचित है।

प्रेमचंद से पहले और समानान्तर लिखने वालों में दूसरा नाम जयशंकर प्रसाद का है। उनकी पहली कहानी 'ग्राम' सन् 1911 में 'इंदु' में छपी, जिसमें प्रसाद ने विस्तारपूर्वक ग्राम सभ्यता की सहजता, उमंग और उत्सवप्रियता को रेखांकित किया है। उनकी 'आकाशदीप', 'पुरस्कार', 'व्रतभंग', 'देवरथ' इत्यादि

कहानियाँ प्रायः व्यक्तिगत भावना और स्थापित नैतिकता का द्वंद्व सामने रखती है, वहाँ विकल्प भावना और कर्तव्य का है–कभी यह कर्त्तव्य राष्ट्रप्रेम, कभी मठ–मर्यादा और कभी पारिवारिक शत्रुता के निर्वाह का है।[61] कहानी में सामाजिकता के प्रति सजगता वह पहला बिन्दु है, जिसे हम रचनात्मक स्तर पर आधुनिकता की संपृक्ति मान सकते हैं। हिन्दी कहानियों में अपने सामाजिक जीवन के प्रति इस सजगता की उपस्थिति प्रेमचंद की कहानियाँ तो देती ही हैं साथ ही चंद्रधर शर्मा गुलेरी की 'उसने कहा था', विश्वम्भरनाथ शर्मा की 'रक्षाबंधन', राजा राधिकारमण प्रसाद सिंह की 'कानों में कंगना' आदि कहानियाँ भी ऐसी कहानियाँ है, जो संदर्भ में सशक्त उदाहरण बनती है।

साहित्य का सृजन करने वालों की आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक लम्बी परम्परा है। उनमें से अधिसंख्य औपनिवेशिक साम्राज्यवादी शासन के विरोधी तथा राष्ट्रीय आंदोलन से प्रेरित तथा प्रभावित और कुछ तो उसमें सक्रिय भी रहे हैं। ऐसे साहित्यकारों में प्रसाद, पंत, निराला, मैथिलीशरण गुप्त, बालकृष्ण शर्मा 'नवीन', प्रेमचंद आदि के नाम उल्लेखनीय हैं जिन्होंने समाज के वंचित समूहों के पक्ष में तथा उनके जीवन उसकी समस्याओं तथा अत्याचार, शोषण आदि का मार्मिक वर्णन किया है और साम्राज्यी शासन के सहयोगी शोषक समूहों के षड्यंत्रो, दुरभिसंधियों तथा मक्कारियों के विरूद्ध संघर्ष के लिए आम जनता को प्रेरित किया है। प्रेमचंद का स्थान इन सहित्यकारों में बहुत ही महत्वपूर्ण है और अपने संपूर्ण उपन्यास तथा कथा– साहित्य में उन्होंने जनपक्षधरता को लगातार रेखांकित किया है।[62] हिन्दी के ऐसे साहित्यकारों में प्रेमचंद का नाम विशेष रूप से महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है जिनका साहित्य–सृजन समाज के हाशिए पर स्थित वंचित लोगों के विरूद्ध होने वाले शोषण, उत्पीड़न, अत्याचार तथा अमान्य का मार्मिक वर्णन करने के साथ उनमें इन प्रवृत्तियों तथा घटनाओं के विरूद्ध संघर्ष की चेतना और मानसिकता का निर्माण करता है।[63] प्रेमचंद का मूल नाम नवाब राय था। नवाब राय की प्रथम कहानी 'इश्के दुनिया व हुब्बे वतन' शीर्षक से अप्रैल, 1908 में 'जमाना' में प्रकाशित हुआ। 'सोजेवतन' के प्रकाशन के बाद ब्रिटिश सरकार ने नवाब राय पर 'सिडीशन' का आरोप लगाकर उनके सारे संग्रह को जब्त कर लिया। प्रेमचंद नाम से उनकी

पहली कहानी 'बड़े घर की बेटी' दिसम्बर 1910 में जमाना में प्रकाशित हुई थी। प्रेमचंद की प्रथम कहानी 'सौत' (हिन्दी भाषा और देवनागरी लिपि में) सन् 1915 में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई।

1.2.2 कहानी का द्वितीय काल (सन् 1918 से 1947 तक)

प्रेमचंद ने अपने साहित्य में हाशिए के समाज के एक प्रमुख स्तंभ किसानों की स्थिति की प्रमुखता से स्थान दिया है। उन्होंने अपने साहित्य में किसानों पर हो रहे अत्याचार और शोषण के विभिन्न रूपों का वर्णन किया है और शोषक वर्ग का भी कुरूप चित्र हमारे सामने प्रस्तुत किया है। भारत में किसान जो बहुसंख्यक थे उनका अधिकतर प्रतिशत या तो भूमिहीन थे या बहुत ही कम भूमि रखने वाले शिकमी किसान थे। उनका जमीन पर अधिकार स्थायी नहीं था और जमींदार उनसे मनमाना नज़राना वसूल करते थे और जब चाहे उनको जमीन से बेदखल कर सकते थे।[64] उनके और जमींदार के बीच बेदखली को लेकर छोटी–मोटी झड़पे भले ही होती रही हों परन्तु कोई संगठित किसान आंदोलन या संगठन नही था।

किसान बहुत ही पीड़ित तथा दबे हुए थे और कॉंग्रेस भी, जो देश में उस समय राष्ट्रीय आंदोलन का प्रतीक थी, अपने वर्गीय चरित्र के कारण कोई भी संगठित किसान आंदोलन चला पाने की न तो स्थिति में थी और न ही इसके पक्ष में। कॉंग्रेस में किसानों की बड़ी संख्या होने के साथ ही काफी संख्या में छोटे जमींदार और कुछ बड़े जमींदार भी थे। कॉंग्रेस को भय था कि किसानों का कोई भी संगठित संघर्ष आगे चलकर वर्ग–संघर्ष का रूप भी ले सकता है।'[65] भारतीय राजनीति में गांधी जी के आगमन से देश को नई आर्थिक तथा राजनैतिक दिशा मिली। अपने आंदोलन के आधार को बड़ा बनाने के लिए उन्होंने ग्रामीण जनता तथा कृषकों को भी इस आंदोलन में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया। सन् 1920 के बाद महात्मा गाँधी का नाम भारत के गाँव–गाँव में गूँज गया और अधकचरे ही सही पर गाँव के कॉंग्रेस–कर्मी नयी जागृति के अग्रदूत बने, परन्तु जातिवाद के लौह–गढ़ में आरक्षित गाँव, पंगु–नैतिकता, मृत आध्यात्मिकता और अंधविश्वास की सुदृढ़ वायवी शृंखलाओं में जकड़े गाँव, वर्ण, परिवार और समाज, नयी अंग्रेजी

शिक्षा, नयी सभ्यता, विविधवाद, वैज्ञानिक उपलब्धियों, आंदोलन, विचार, नेतृत्व, संघर्ष और उथल–फथल में बहुत पिछड़ गये। उनकी दशा निरंतर गिरती गई। परम्परागत खेती इस सीमा तक अलाभकर हो गई कि गाँव छोड़कर लोग शहरों की ओर भटकने लगे। उनको जो शिक्षा दी गई वह उन्हें मात्र नौकरी–खोजी बना देती। संयुक्त परिवारों की विघटनोन्मुकता ने खेत के छोटे–छोटे हिस्से कर दिए। बढ़ती आबादी और घटती पैदावार की चुनौतियों ने गरीबी की स्थिति को और भयावह कर दिया।

भारतीय ग्राम्य जीवन का अंकन प्रेमचंद के लिए आंदोलन या नारा नहीं था। प्रेमचंद इस बात को अच्छी तरह समझते थे, कि अपनी सारी सादगी, सहजता और स्वेच्छा के बावजूद ध्वंस प्रायः सामंती व्यवस्था और नवागत पूंजीवादी के दोहरे दबाव के फलस्वरूप भारतीय किसान की नियति को बदल पाने के लिए एक महत्त और निर्णायक संघर्ष अपेक्षित है। 'गृहदाह' और 'अलग्योझा' जैसी कहानियों में संयुक्त परिवार प्रथा को दिखाते हुए पीड़ित और वंचित वर्ग के अभिशप्त जीवन, उन पर होने वाले अत्याचार, बेगार और उनके निर्मम शोषण के बड़े यथार्थ और आत्मीय और प्रमाणिक चित्र का चित्रण करते हैं।[66]

कठोर मेहनत के बावजूद किसान गरीब, अभिशप्त और फटेहाल है, क्योंकि जमींदार, कारिदें, पुलिस और धर्म के ठेकेदार सबके सब जोक की तरह चिपटकर दृश्य–अदृश्य रूप में उनका खून चूस रहे हैं। घोषणा और अत्याचार पर आधारित इस व्यवस्था का भयावह रूप 'सवा सेर गेहूँ', 'सद्गति', 'ठाकुर का कुंआ', 'पूस की रात' और 'कफन' जैसी कहानियों में देखा जा सकता है।[67] 'सवा सेर गेहूँ' में शंकर विप्र से लिए गए सवा सेर गेहूँ के बदले, जो वह द्वार पर आए साधु के अतिथि–सत्कार के लिए लेता है, जीवनभर गुलामी का पट्टा अपने गले में डाल देता है।..... सात वर्ष बाद उससे उन सवा सेर गेहूँ, तकादा किया जाता है। यह निर्मम शोषण उसके मन के प्रति निराशा और घृणा का भाव पैदा करता है...।'[68] 'सद्गति' की दुखती चमार अपने नाम से भी दुखी है, जो ईश्वर भक्त पंडित घासीराम से साइत पूछने आता है, तो उनकी गाय को घास डालने से लेकर भूसा ढोने और लकड़ी काटने तक सब कुछ काम भूखे ही मरते रहकर सद्गति को प्राप्त होता है।'[69]

'कफन' में घीसू या माधो जिस रूप में आये हैं, वह उनकी सामाजिक स्थिति को भी स्पष्ट करता है। गरीब, विभिन्न निम्न वर्गों की सामाजिक स्थिति का वे प्रतिनिधित्व करते हैं। कफन के लिए जुटाए पैसों से वे भौतिक सुख का आनंद लूटते हैं, कई लोगों को यह प्रवृत्ति 'क्षणजीवी' लगती है। लेकिन यहाँ प्रेमचंद एक सामाजिक प्रारूप को सामने रखकर जिस 'दृष्टि' को रूपायित करना चाहते हैं, वह हमारे सामाजिक जीवन की ही पैदा की हुई दृष्टि है।'[70] 'पूस की रात' कहानी का मूल स्वर मुक्ति दासता से मुक्ति तथा अपने लिए एक नए ढंग का स्वातंत्र्य विधान उपार्जित करना है। प्रेमचंदयुगीन कहानियों में औपनिवेशिक भारत की 'स्वतंत्रता' की समस्या के रूप में वर्णित नहीं किया गया है, अपतु 'दासता' के लिए उत्तरदायी सम्पूर्ण सामाजिक स्थितियों एवं उनसे उत्पन्न समस्याओं को सामने रखकर किया है। 'बड़े घर की बेटी', 'पंच परमेश्वर' जैसी कहानियों में गरीबी अमीरी, न्याय और मैत्री, युद्ध के लिए विवश संदर्भों में जूझते मनुष्य की वह विद्यमान स्थिति केवल दासता के कारण बनी मानसिकता की निर्मिति है।

प्रेमचंदोत्तर कहानीधारा में मुख्य रूप से जैनेन्द्र, यशपाल, इलाचंद्र जोशी, अज्ञेय, उपेन्द्रनाथ अश्क, विष्णुप्रभाकर, रांगेय राघव, रामप्रसाद घिल्ड़ियाल 'पहाड़ी', राहुल सांस्कृत्यायन तथा नागार्जुन प्रमुख है। जैनेन्द्र की कहानियों में 'फाँसी', 'गदर के बाद', 'जयसंधि', 'खेल', 'पत्नी' आदि प्रमुख है। यहाँ लेखक वास्तविक और यथार्थ जीवन की अपेक्षा अवास्तविक और अमूर्त्त जीवन में गहरी अभिरूचि रखते हैं। यशपाल की 'कर्मफल' या 'अभिशप्त' या 'आदमी का बच्चा' जैसी कहानियाँ सामाजिक विरूपताओं को व्यक्त करती है।'[71] प्रमेचंदोत्तर हिन्दी कहानी में अज्ञेय को एक नई दिशा के अन्वेषण का श्रेय दिया जाता है। सांकेतिकता और प्रभाव सघनता की दृष्टि से 'गैंग्रीन', 'हीलोबीन की बत्तखें और 'जयदोल' जैसी कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।'[72] भगवतीचरण वर्मा की 'निदिंया लागी' और 'मिठाई वाला' आदि कहानियों में वे साधारण जीवन से उठाए गए निम्नमध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय पात्रों का सहानुभूतिपूर्वक अंकन करते हैं। 'देवी', 'चतुरी चमार' आदि ग्रामीण परिवेश पर लिखी गई कहानियाँ है।'[73]

स्वतंत्रता पूर्व की कहानी में सामाजिक जीवन के संक्रमण की गहरी पहचान मिलती है। यह संक्रमण कई स्तरों पर अभिव्यक्त हुआ है। राजनीति के क्षेत्र में स्वदेशी–विदेशी की टकराहट थी। अपने ही देश के अफसरों और पुलिस कर्मचारियों से सामान्य जनता की टकराहट थी। सामाजिक क्षेत्र में सामंतवाद और महाजनी सभ्यता का संघर्ष था। महाजनी सभ्यता सामंती सभ्यता के मूल्यों को निस्सार सिद्ध कर रही थी। देश की संपत्ति राजाओं, महाराजाओं और सामंतों के हाथ से निकलकर शहरों के उद्योगपतियों के हाथों में आने लगी थी। देशी और विदेशी उद्योगपतियों की भी एक टकराहट थी। विदेशी शासन, विदेशी पूंजीवाद के उदय से मजदूरों का एक नया वर्ग बनने लगा था और पूंजीपतियों और इन मजदूरों के संबंधों में तनाव उभरने लगा था। नगरीय समाज में पूंजीवादी व्यवस्था का दबाव मजदूर झेल रहा था और ग्रामीण समाज में भारत का बहुसंख्यक किसान, जमींदार और महाजन की व्यवस्था के दो पाटों में पिस रहा था। किसानों का सीधा संबंध जमींदारों से था किन्तु सरकारी अहलकार भी इनकी हड्डियों से पैसे निचोड़ते थे। छोटे–छोटे साहुकारों और ऋणदाताओं के रूप में महाजनी सभ्यता की अपशक्तियाँ देहात में भी फैली थी, जो किसानों का खून चूसती थीं। इसके अतिरिक्त धर्म भी अर्थमूलक होकर रूढ़िवादी किसानों का शोषण निर्ममता से करता था। मध्यवर्ग की अपनी अलग समस्याएँ थी। वह अपनी आर्थिक विपन्नता और उच्च मर्यादा पालन के बीच बुरी तरह पिस कर आडम्बर–प्रियता का शिकार हो रहा था। समाजिक रीति–रिवाजों और मर्यादाओं के झूठे निर्वाह के लिए भीतर–भीतर कई–कई परतों में टूटकर बाहर–बाहर से अपने को अखंड दिखाने के प्रयत्नों में लगा हुआ था।'[74]

1.2.3 कहानी का तृतीय काल (1947 से 1967 तक का समय)

स्वतंत्रता के कुछ वर्षों के पश्चात् हिन्दी में नई कहानी धारा सक्रिय दिखाई देती है। आजादी के बाद सामाजिक जीवन में एक विशेष प्रकार का तनाव लक्षित हुआ है। एक खास तरह की व्यवस्था गाँवों में उनकी सम्पूर्ण इनर्शिया और अनिच्छा के बावजूद पहले पहल टूटती हुई नजर आई है (इसलिए भी कि गाँव के जीवन में अधिक पारदर्शिता है)। इस समय की लिखी गई अधिकांश प्रतिनिधि रचनाओं में भी जो नयापन है, उसमें सामान्य मानवीय जीवन के बदलते संदर्भों तथा उसकी

असंगति अधिक करीब खींच ले जाने की क्षमता है। हिन्दी कहानी में यह एक नई प्रवृत्ति का आविर्भाव है, जिसे एक स्तर पर मोहन राकेश, कमलेश्वर, और राजेन्द्र यादव ने सार्थक किया, तो दूसरे स्तर पर निर्मल वर्मा ने। अमरकांत और शानी ने इसका प्रयोग एक धरातल पर किया तो फणीश्वरनाथ रेणु और मार्कण्डेय ने एक दूसरे (ग्राम के) धरातल पर।'[75]

अपनी कहानियों में एक ओर रेणु आधुनिकीकरण की विडंबना के रूप में शहर की ओर पलायन करते ग्रामीण युवकों को अंकित करते हैं तो दूसरी ओर भारतीय ग्रामीणों की लोक–कला एवं लोक संस्कृति को मिशनरी उत्साह और काव्यात्मक संवेदना के साथ फनर्जीवित करने का प्रयास करते हैं। 'विघटना के क्षण' में शहर आकर रिक्शा खीचने और दरबानी करने वाले लोग हैं, जो गाँव लौटकर शहरी विकास और समृद्धि की कहानियाँ खूब अकड़ कर सुनाते हैं।'[76] तीसरी कसम ऊर्फ मारे गए गुल्फाम' में ग्रामीण परिवेश की सामान्य सी गाथा है। कहानी की पूरी अर्न्तयात्रा में एक अनाम–सी महक, कोमलता और मिठास है। अपने परिवेश के भीतर चरित्रों की छोटी–सी छोटी प्रतिक्रिया को एक सम्पृक्त आत्मीयता और रागात्मक तल्लीनता से रेणु ने व्यंजना प्रदान की है।'[77]

मार्कण्डेय की कहानियों में नए और पुराने मूल्यों के संघर्ष और फराने से नए के संक्रमण की अपेक्षाकृत जितनी आकस्मिक गति इन ग्रामों में मिलती है, उतनी अन्यत्र नहीं, क्योंकि ग्राम में कोई नया परिवर्तन, पुरातन मूल्यों की आमूल टूटन से सम्बद्ध होता है।'[78] आधुनिक भूमि–सुधारों और औद्योगिकरण से उत्पन्न परिस्थितियों ने ग्राम–जीवन को एक नया संस्कार दिया। ग्रामीण जीवन की यथार्थ संभावनाओं का दबाव ही मार्कण्डेय के पहले संग्रह 'पान के फूल' की पृष्ठभूमि है। इसका प्रकाशन सन्' 54 में हुआ। इनमें एक ओर है– गाँव की सोंधी मिट्टी का मोह, जहाँ हरे–भरे खेत, धान–गेहूँ की बालियाँ और बाहर से चरकर लौटती हुई गायों का रँभाना, तो दूसरी ओर है– एक भयानक खामोशी जिससे जिंदगी की तरफ से अविश्वास, निराशा और ग्लानि होती है। इनमें ठहरती हुई सांमती व्यवस्था के अवशेष परिस्थितियों का बंधन और आर्थिक दबाव से बदलते हुए नैतिक प्रतिमानों का परिवर्तित स्वरूप है।'[79] लेकिन अपनी इन कहानियों में भारतीय ग्राम जीवन से

अपने रागात्मक संबंधों की छाप नहीं छोड़ पाते हैं। 'पान के फूल' के बाद 'महुए का पेड़' से लेकर 'बीच के लोग' तक मार्कण्डेय की कहानियों में अपने समय–सदंर्भों के प्रति सजगता क्रमशः विकसित होती देखी जा सकती है। इन कहानियों के आधार पर स्वाधीनता के बाद के गाँवों की एक प्रमाणिक और अंतरंग दुनिया से साक्षात्कार किया जा सकता है।'[80] उनकी 'भूदान' और 'आदर्श कुक्कुटग्रह' जैसी कहानियाँ भूदान आंदोलन और सरकारी योजनाओं की कलई खोलती है। भूदान में मिली जिस भूमि के लिए उसकी हलवाही भी चली जाती है, उसकी वास्तविकता यह है.... 'भूदान कमेटी के मंत्री जी ने कब का रामजतन को समझा बुझा दिया है, ठाकुर को जिस दान में भूमि मिली थी, वह केवल पटवारी के कागज पर थी.....।'[81]

नई कहानी आंदोलन में शिवप्रसाद सिंह की पहचान मूलतः एक ग्राम कथाकार के रूप में उभर कर आई थी, लेकिन ग्रामीण यथार्थ के अपने अंकन में न तो वे वैचारिक तेजस्विता अपनाते है और न ही लोक तत्वों के समुचित उपयोग की बावजूद आंचलिकता के प्रति एक स्वतंत्र आंदोलन का उत्साह दिखाते हैं। स्वतंत्रता के बाद बाढ़ के पानी की तरह आई राजनीति, दलबंदी, सरकार योजनाओं में भ्रष्टाचार और व्यापक स्तर पर नैतिक मूल्यों के विघटन का कोई संकेत नहीं मिलता।

सामंती मूल्यों और जीवन–पद्धति के प्रति एक अव्यक्त–सा आकर्षण भी इन कहानियों में शिवप्रसाद सिंह ने ग्राम समाज में हाशिए पर जीवित लोगों मुसहर, चमार, कुम्हार, भंगी, नट, केवट, वेश्या आदि को वर्ग– संस्कारों से मुक्त होकर अंकित किया है। उनकी कहानियों में प्रमुख 'दादी माँ', 'गुलरा के बाबा', 'देवा की माँ' आदि प्रमुख हैं।'[82] शिवप्रसाद सिंह अपनी अनेक कहानियों में आत्म–कथानक शैली का प्रयोग करते हैं। इनमें गाँव का एक पढ़ा–लिखा युवक है, जो कहीं छात्र है तो कहीं नौकर, जो गाँव लौटकर संस्मरणात्मक रूप से ग्राम परिवेश पर कहानियाँ लिखता है।[83]

प्राचीन राजस्वप्रणाली और भूव्यवस्था में ग्रामीण बुर्जुआ के जन्म ने तथा विकासशील पूंजीपति वर्ग ने अपना प्रभाव डाला था। पुराने जमींदार की हवेलियों से

ईंट भरने लगी थी। अतीत की परछाइयों की तरह हिलते–ऊलते ये लोग गुजरे जमाने के लोग हो चले थे। शहरीकरण और औद्योगीकरण ने सामंती, भू–दासों, खेतिहर मजदूरों को शहर की ओर आकर्षित किया। गाँव की सारी संभावनाएँ समाप्त हो रही थी, भविष्य शहर था, यह प्रक्रिया एक दशक पहले से प्रारंभ हो चुकी थी। भूमि के उत्पादन पर निर्भर रहने वाले परिवारों के कौटुंबिक संबंध स्थिर होते हैं। सामंती व्यवस्था में अरसे तक संयुक्त परिवार के बने रहने की गुंजाइश रहती है। नए–नए पेशों के जन्म ने, शहरीकरण के प्रहार ने संयुक्त परिवारों को तोड़ दिया। अब इस नए पृथक् परिवार के 'केन्द्र' में पति–पत्नी आ गए थे। चाचा, ताई, दादी, भतीजे कहानियों में इसी कारण पहले ही गायब होते जा रहे थे। संबंधों को लकर लिखी जाने वाली कहानियाँ अब प्यार और मित्रता के अतिरिक्त किसे विषय बना सकती थी। कहानी गाँव छोड़कर शहर आ चुकी थी।'[84] सचेतन कहानी, अकहानी आदि आंदोलन इसी भटकाव की पैदावार थे। इस षड्यंत्र के लिए अन्य वस्तुस्थितियाँ भी परिपक्व और सकारात्मक थीं सन्' 62 के भारत–चीन युद्ध ने साम्यवादी प्रभाव को बुरी तरह नुकसान पहुँचाया था। सन्' 64 में साम्यवादी दल स्वयं दो टुकड़ों में बंट गया। इन घटनाओं का असर अभी मिटा नहीं था।'[85] इसी बोध ने मध्य निम्नमध्यवर्गीय 'भारतीय' लेखन को उसके परिवेश, मिट्टी, गंध, पीड़ा, संघर्ष और जनता के साथ जोड़ा तथा उसको पृथक् निजी विशिष्टता और पहचान दी। यह प्रगतिशील लेखन की पृष्ठभूमि थी। यह 'समानांतर दुनिया' की चकाचौंध से मुक्तिसंघर्ष का पहला चरण था।'[86]

जाति व्यवस्था भारतीय परिवेश का एक यथार्थ है। इस यथार्थ को विषय बनाकर कहानियाँ कम ही लिखी गई है। 'क्यों' में प्रकाशित 'नीरज सिंह' की कहानी 'क्यों' गाँव की जटिल यथार्थ को अपना विषय बनाती है और इसकी अतंर्द्वद्व को सम्प्रेषित करने में सफल भी होती है। भारतीय संदर्भ में वर्गचेतना को पहली मुठभेड़ जाति–व्यवस्था से करनी पड़ती है। पूरे उत्पादन संबंधों के साथ आंगिक रूप से गुंथी हुई जाति–व्यवस्था ग्रामीण सामंती जीवन का एक तथ्य है। नीरज सिंह की यह कहानी आज के बदलते परिप्रेक्ष्य में इसी जाति–व्यवस्था की नींव पर प्रहार करती हुई वर्ग सत्य को रेखांकित करती है।'[87] इसी संदर्भ में काशीनाथ सिंह

की कहानी 'चोट' जिसमें ठाकुर संचासिंह अपने जातिगत संस्कार से मुक्त नहीं हो सका है ओर होटल में बेयरागिरी करता हुआ श्री अपने गाँव से आए गड़रिए के बेटे निकाम को घृणा से देखता है, जो अब शहर में उससे ओहदे में बड़ा है।'[88] गाँवों में सामंती शोषण को सशक्त और तीखे रूप में उद्‌घाटित करने वाली कहानियों में माहेश्वर की कहानी 'तस्वीर, ट्रेन और आँखें' (पहल–4) निश्चित ही प्रगतिशील कहानी लेखन की एक उपलब्धि है। इस कहानी ने एक प्रतीक चरित्र दिया है, जो वस्तुतः शोषित किसान का एक 'व्यंग्य चित्र' है।'[89]

कहानी के संदर्भ में, जनवादी कहानी वस्तुतः प्रगतिशील कहानी का विस्तार है। ज्ञानारंजन, सतीश जमाली, काशीनाथ सिंह, रमेश उपाध्याय, मधुकर सिंह से लेकर इसराइल और विजयकांत और अनेक लेखक वस्तुतः इसी प्रगतिशील कहानी धारा के लेखक है। सतीश जमाली की कहानियाँ व्यवस्था के वीभत्स और अमानवीय रूप के उद्‌घाटित करते हुए उसके परिवर्तन में आम आदमी की भूमिका को रेखांकित करती है। 'ठाकुर संवाद' और 'थके हारे' ये ऐसे बहुत से पात्र है जो अपराध जगत से संबद्ध है। 'ठाकुर संवाद' में रिक्शा चालक ठाकुर की निरूपायत और मालिक सुंदरलाल की वर्गीय प्रवृत्ति को सटीक ढंग से अंकित किया जा सकता है। पूंजीवादी समाज में वर्ण– संक्रमण आदमी की पूरी सोच और व्यवहार को कैसे बदलता और प्रभावित करता है, सुदंरलाल का चरित्र इसे विश्वसनीय रूप में प्रकट कर सका है।'[90]

इसराइल एक प्रतिबद्ध वामपंथी लेखक है, जो लंबे समय तक मजदूर–आंदोलन से जुड़े रहे है। उनकी कहानियों में कलकत्ता में विस्थापित भोजपुरी बिहारी मजदूरों की एक आत्मीय और अंतरंग दुनिया से साक्षात्कार किया जा सकता है। उनकी कहानियों के पहले संग्रह 'फर्क' की अधिकांश कहानियों में देश का जो चित्र उभरता है, वह अराजकता और नृंशस अत्याचारों से भरा है, जिसमें तेजी पकड़ते मजदूर आंदोलन को दबाने के लिए सत्ता और उसके दलालों की सक्रियता देखते ही बनती है। मजदूरों के तेवर और उनकी संगठनात्मक उपलब्धियों की दृष्टि से 'मुस्कान', 'पंच', 'रात बाकी थी', 'फिर उसी कहानी की' और 'लोग जिन्दा हैं' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय हैं।'[91] इसराइल के मजदूर पात्र

'एक और विदाई' के चेतानंद की भूमिका को अच्छी तरह पहचानने लगे हैं, जो जीवनभर मजदूरों के विरोध में मालिकों की दलाली करके अपने घर पड़ते समय लाल कपड़ा लेकर अकेले ही परचम लहराने को मजबूर है।'[92] 'रोजनामचा' शीर्षक कहानी की एक मजदूर कार्यकर्त्ता की डायरी के रूप में हैं। इस डायरी में अंकित काल कुछ चौदह महीने का है जिसमें कहानी की एक पात्र सांवली के अनुसार 'पसीना बहाने का हक भी आदमी से छीन लिया जा रहा है.....।' कहानी में घटित होने वाली घटनाओं का संकेत उसकी इस शुरूआत से ही मिल जाता है..... 'हुगली नदी की धारा के बची लहूलुहान खूनी सुबह उतर गयी थी। सूरज करे मांस के लोथड़े की तरह पूरब के छोर पर लटका हुआ था.....।[93]

निर्मल वर्मा की 'तनाव' सूखाग्रस्त क्षेत्रों के गाँवों में जीने के लिए निरंतर मौत से जूझते रहने वाले लोगों की कहानियों का प्रतिनिधित्व करते हैं। कहानी का मूल प्रश्न सूखाग्रस्त के कारण होते रहने वाली बर्बादी में से न उठाते हुए शोषक व्यवस्था के अमानुषिक पंजों में फंसकर अस्तिवहीन होते हुए आदमी के संदर्भ में उठाया गया है। यह आदमी तकलीफों के उस सीमांत तक धकेल दिया गया है, जहाँ उसे जीने के लिए संघर्ष का तरीका बदलना पड़ा है।' उसने सारी शक्ति को हाथों में जुटाकर एक झटके से उस साहूकार की गर्दन दबोच ली थी।'[94] अरविंद गुप्त की 'ट्रैक्टर' और नीरज की 'दूसरा आदम' में भी खेतिहर मजदूरों और शोषित ग्रामीणों के भीतर शोषण और अत्याचार के खिलाफ पनपने वाली आग को देखा जा सकता है।[95]

1.2.4. कहानी का चतुर्थ काल (1961–2000)

सन् 1967 का समय हिन्दी कहानी में एक महत्वपूर्ण बदलाव का युग था। संसदीय प्रणाली के प्रति असंतोष और अविश्वास और वर्तमान जनतंत्रीय व्यवस्था के प्रति आशंका का स्वर इस दौर की मुख्य चिन्ता के रूप में उभरता है। सामंती व्यवस्था के विरूद्ध भूमिहीन किसानों का संघर्ष नक्सलबाड़ी से शुरू होकर देखते–देखते ही पूरे देश में कहीं ज्यादा, कहीं कम अपनी जद में ले लेता है।

भारत में नक्सलबाड़ी आंदोलन का जन्म 1967 में पश्चिम बंगाल में संयुक्त मोर्चा सरकार के गठन के बाद हुआ। नक्सलबाड़ी में बसंत का व्रजनाद हुआ। यह भारतीय राजनीति में एक बड़ा धमाका था– 'सरकार– साहुकार–जमींदार' के खिलाफ चारू मजुमदार के नेतृत्व में हुआ किसानों का एक आंदोलन था। तेलंगाना के किसान विद्रोह के बाद साहित्य लेखन की दुनिया में एक बड़ा बदलाव आया। आँध्र प्रदेश, हिन्दी प्रदेश से बहुत दूर था और तेलंगाना का यह किसान आंदोलन केवल तेलंगाना तक ही सीमित नहीं था। उसका व्यापक प्रभाव था, परन्तु नक्सलबाड़ी आंदोलन का प्रभाव और अधिक व्यापक था। यह आंदोलन शीघ्र ही पश्चिम बंगाल मे जन्म लेकर बिहार, ओडिशा, उत्तर प्रदेश, आँध्र प्रदेश, तमिलनाऊ, केरल, असम और त्रिपुरा के कुछ हिस्सों में फैल गया।'[96] नक्सलबाड़ी आंदोलन ने हिन्दी कहानी की दिशा बदल दी। नामवर सिंह ने कहा कि ''इसने एक कैटेलेटिक एजेन्ट के रूप में किया।' सातवें दशक की कहानियों में अनुभव पर विशेष बल था और कहानीकारों ने विचारधारा को तिलांजालि दे रखी थी। सामाजिक राजनीतिक चेतना ने हिन्दी कहानी को नए सिरे से ग्रामोन्मुख किया और व्यवस्थाविरोधी स्वरों की कहानियों में प्रमुखता हो गई।''[97]

हिन्दी कहानी का यह परिवर्तन सामान्य नहीं था। सत्तर के बाद हिन्दी कहानी पहले की तरह नहीं रहा। ज्ञानारंजन और काशीनाथ सिंह की कहानियों ने अपना रूप और स्वर बदला। ज्ञानारंजन ने 'घंटा', 'बहिर्गमन' और 'अनुभव' जैसी कहानियाँ लिखी और काशीनाथ सिंह की 'सुधीर घोषाल' तथा 'होम मिनिस्टर के नाम' कहानियाँ उनकी पहले की कहानियों से नितांत भिन्न था।'[98] काशीनाथ सिंह की 'कहानी सराय मोहन की' (1986) ग्रामीण जीवन परिवेश के संक्रमणकालीन समाज और उसके चरित्र की एक बहुत सशक्त और संश्लिष्ट कहानी है। इस कहानी में एक पात्र के अतीत के वैभव और उसके मोह की पीड़ादायक स्मृतियाँ दिखाई गई हैं। बाबू साहब गाँव आकर देखते हैं कि यहाँ नए बने रईसों का एक ऐसा वर्ग है जो अपनी मेहनत–मजदूरी के बल पर ऊँचा उठा है। इसने झूठी प्रतिष्ठा के बोझ को कभी नहीं ढोया और आज पुराने वक्त के रईसों को अपने सामने हाथ फैलाता देखकर एक तुष्टि के भाव से भर जाता है। हुकुम चलाने वाले

वर्ग की दिक्कतें इतनी बढ़ गई कि उन्हें हाथ से काम करने, खेत में कुदाल चलाने पर विवश होना पड़ा। पर क्या यह सच है कि ग्रामीण समाज वर्णाश्रम व्यवस्था की रूढ़ियों से मुक्त हो गया? क्या इतना विकास कर पाया है हमारा ग्रामीण समाज, तकनीकि क्रांति के बाद भी? ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' को इसके बरक्स रखा जा सकता है। 'सलाम' कहानी में जाति प्रथा के पारम्परिक रूप को चित्रित किया गया है। यहाँ दोनों रचनाकारों की वैश्विक दृष्टि के अनुरूप ही कथ्य की भिन्नता है।

भैरव प्रसाद गुप्त की कहानी 'कुंठी' (1985) गाँव के बदलते हुए सामाजिक परिवेश पर ही लिखी गयी है। यहाँ कहानीकार उन कारणों को तलाश करने की कोशिश करता जिसके कारण भगत कम्युनिस्टों की सूची में शामिल हो जाते है। गाँव के परिवर्तन को संजीव की कहानी 'पिशाच' में देखा जा सकता है, जिसमें रचनाकार ने यह चित्रित किया है कि गाँव के ब्राह्मणों और ठाकुरों की हवेलियाँ ही पुरानी पड़कर नहीं ढह रहा है, वह सारी व्यवस्था जो युगों–युगों से शोषितों, दलितों को हीनतर बनाती चली आ रही थीं। अब शोषण की बारी दूसरों की थी।[99] यह कहानी वस्तुतः सामाजिक परिवर्तन की ओर भी संकेत करती है।

गाँवों में मिल रहे शिक्षा की उपयोगिता के बारे में 'शिवमूर्ति' की कहानी 'भरतनाट्यम' को देखा जा सकता है। इसमें यह भी दिखाया गया है कि नवयुवक बी.ए., एम.ए. करने के बाद आगे की पढ़ाई के रूप में बी.एड या एल.एल.बी. का ही नाम जान जाते हैं यह हजारों ग्रामीण युवकों की नियति है। बेकार नवयुवक की अपने परिवार में टूटने की मनः स्थिति को भी इसमें देखा जा सकता है। पत्नी दूसरे से संबंध बनाती है और एक दर्जी के सहारे भाग जाती है। 'बलराम' की कहानी 'शिक्षाकाल' और 'अभिलाषा' ग्रामीण जीवन में शिक्षित नौजवानों की समस्याओं को गहराई से देखती है। इन कहानियों में नायक विषम परिस्थिति में शिक्षा प्राप्त तो कर रहा है किन्तु उसके सामने निराशापूर्वक भविष्य खड़ा है। ग्रामीण युवक आज इन स्थितियों से गुजरता हुआ उन्नति की तलाश में भटक रहा है। कथाकार भीमसेन त्यागी की कहानी 'कवि प्रिया' में उस युवक का अंतर्द्वंद्व दिखलाई पड़ता है जो ऊँची शिक्षा पाने के बाद एक शिक्षित पत्नी का ख्वाब देखता

है किन्तु बेकारी के कारण ऐसी पत्नी मिली जिसे भैंस को सानी–पानी देना ज्यादा रास आता है। पर जीवन का यथार्थ भी यही है कि आर्थिक समस्याओं का समाधान सपनों से नहीं होता बल्कि भैंस से ही होता है, वहीं उसकी जीविका का साधान बनती है। रामदरश मिश्र की 'एक अधूरी कहानी' में गाँव के आदमी की सोच में आये बदलाव को दिखाया गया है। इस कहानी का नारीपात्र स्त्री– पुरूष के लिए बनाये गये अलग–अगल नैतिक प्रतिमानों को गंभीरता से चुनौती देता है।

विजयकांत की कहानियाँ सक्रिय हस्तक्षेप की कहानियाँ है। वैसे बिहार में, देश के अन्य भागों के मुकाबले, सामंतवाद, वर्ग–संघर्ष और सामाजिक– उत्पीड़न वाली स्थितियाँ अधिक हैं। 'ब्रह्मफांस', 'बलैत माखुन भगत', 'राह', 'बान्ह' और 'जाग' आदि सभी कहानियों में एक वर्ग ठाकुरों और मालिकों का है तो दूसरा वर्ग रगनू सपेरा, विसो साहू, माखुन भगत, जुम्मन मियाँ, सनफी मियाँ, मास्टर सुरखी और राधा बाई का है। प्रायः इन सभी कहानियों के केन्द्र में सुपौली थान है– लेकिन कहानियों में अंकित स्थितियाँ उसे समूचे बिहार के सच से जोड़ती हैं।'[100] 'तीस साल की सफरनामा', 'आप यहाँ हैं', 'भूमिका तथा अन्य कहानियाँ', 'दुनिया की सबसे हसीन औरत', 'प्रेतमुक्ति', 'प्रेरणा स्रेत' तथा अन्य कहानियाँ और 'ब्लैकहौल' कथा संकलनों की कहानियों के अतिरिक्त संजीव की प्रकाशित अनेक कहानियों का मुख्य स्वर भारतीय राज्य–सत्ता और व्यवस्था का वास्तविक रूप दिखाना तथा उसकी सहयोगी शक्तियों का वास्तविक चित्र प्रस्तुत करना है।'[101]

समकालीन हिन्दी कथाकारों में स्वयंप्रकाश, संजीव और उदयप्रकाश की भिन्नता सहज स्पष्ट है। स्वयंप्रकाश की 'पार्टीशन' कहानी देश– विभाजन की त्रासदी से भी आगे जाकर आदमी और आदमी के विभाजन के कारणों की ओर उँगली उठाती है। उदय प्रकाश की 'तिरिछ' और 'अंत में प्रार्थना समाज' में तेजी से फैलती संवेदनाशून्यता और उसके आतंक को विश्वसनीय ढंग से अंकित करता है।[102] 'अपराध', 'शिनाख्त', 'ऑपरेशन जोना की', 'तिरबेनी का तडबन्ना', 'पूत–पूत'! पूत–पूत, 'अवसाद' नक्सलबाड़ी आंदोलन से संबंधित कहानियाँ है। 'अपराध' में और 'शिनाख्त' में इन आंदोलन के प्रति समर्पित या झुकाव रखने वाले पात्र मध्यवर्गीय हैं। 'शिनाख्त' पुलिस छात्रावास में घुस कर नक्सली छात्रों की खोज करता है।

असलम जहानाबाद का है और यह जानकर सिपाही कहता है– ई जरूर नक्सली।'[103] 'हंस' और 'विकल्प' में सद्यः प्रकाशित दो कहानियाँ 'पूत–पूत! पूत–पूत!' और 'अवसाद' नक्सलबाड़ी आंदोलन से जुड़ी है। यह भारतीय गाँव के पचास साल के सफरनामे को एक नए सिरे से देखता है। भारतीय गाँवों में से कुछ ही गाँवों में संघर्ष की स्थिति है और बिहार के गाँवों में यह संघर्ष भी अपने मूल उद्देश्य और लक्ष्य से भटक गया है।'[104] पहली बार संजीव ने 'पूत–पूत! पूत–पूत! में दो सेनाओं (वीर सेना और मुक्ति सेना) को आमने–सामने खड़ा किया है। यह बिहार का यथार्थ है, जो आज विश्व प्रसिद्ध है। आजादी के बाद गाँवों की भूमि–संबंधी समस्या आज तक नहीं सुलझी है। अर्द्धसामंती और अर्द्धपूजीवादी व्यवस्था में यह संभव भी नहीं है। इस व्यवस्था को उलट देने के लिए ही नक्सलबाड़ी आंदोलन का जन्म हुआ था, लेकिन वह स्वयं विविध घड़ों में विभक्त होकर शिथिल और कमजोर हो गया। संजीव की यह कहानी नक्सली संगठनों के भटकाव पर प्रकाश डालती है।'[105]

विजयकांत की 'बीच का समर', सुरेश कांटक की 'धनपत का बैल', 'पंचित' 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', कमलकांत त्रिपाठी की 'फण्यात्मा', रामस्वरूप अणखी की 'जोहड़' आदि कहानियों में भी गाँव के जीवन की कहानियाँ है।[106] वे उस जमीन की कहानियों को उठाते हैं, जहाँ दमित प्रताड़ित जन पूरे जद्दोजहद के साथ अपनी बेहतरी के लिए संघर्षरत रहते हैं। सातवें दशक की हिन्दी कहानियों में जो 'अनुभववाद' केन्द्र में रहा, उसे आठवें दशक की कहानियों ने बाहर कर दिया। आठवें दशक का भारतीय समाज संघर्षमय था। आर्थिक असमानता के कारण भारतीय जनता में असंतोष की ज्वाला प्रज्वलित होती जा रही थी। बेरोजगारी, गरीबी, भूख, कालाबाजारी, भ्रष्टाचार आदि जनसामान्य के जीवन को ध्वस्त कर रहे थे। कहानी मध्यवर्गीय जीवन परिवेश के चारों ओर चक्कर लगा रही थी। भोगे हुए यथार्थ की अभिव्यक्ति तथा अनुभव की प्रमाणिकता पर बल देने वाली मध्यवर्गीय भावबोध की कहानी ने समाज के बहुसंख्यक निम्न वर्ग की अपेक्षा की थी। इस उपेक्षित वर्ग के संघर्ष को स्वर देने का प्रयास आठवें दशक की कहानी ने किया।'[107]

आठवें दशक की कहानीं 'समानांतर कहानी' नाम से संबोधित है। समानांतर कहानी में इन यथार्थों के साथ आम आदमी को आर्थिक स्थिति के विभिन्न पक्षों को उजागर किया गया है। इब्राहीम शरीफ की 'जमीन का आखिरी टुकड़ा' कहानी में शोषणकारियों के चपेट में पड़कर तड़पने वाले एक ग्रामीण परिवार की करूण कथा वर्णित है। सूदखोरी की जो गहरी पकड़ ग्रामीण जीवन को बर्बाद कर रही है, उसी को कहानी में उद्‌घाटित किया गया है। लगभग पांच हजार रूपये में जमीन बेचने पर भी कर्ज और सूद देने के बाद, केवल डेढ़ सौ रूपये ही हाथ में आ पाते हैं। परिवार वालों को यह पीड़ा सताती रहती है कि 'हमारा जमीन इतनी जल्दी नहीं बिकती ..... लेकिन आधी तो सूद पर ही चली गई.....।[108] महाजनियों और सूदखोरों के साथ पूंजीपति वर्ग एवं अफसरशाही व्यवस्था हाथ मिलाकर, नए सिरे से, सामान्य जन का शोषण कर रहे हैं।[109] जिंदा रहने का संघर्ष मेहरून्निसा परवेज की 'आंतक भरा सुख' में अंकित किया गया है। कमलेश्वर की 'इतने अच्छे दिन' कहानी तीन साल से सूखे से पीड़ित इलाके में रिश्तेदारों एवं ढोर–डंगरों की हड्‌डियाँ बेचकर जीवन बिताने वाले वाला और कमली की करूण गाथा है। पूरी कहानी में गरीबी और भूख से खो गई मानवीय संवेदना को उभारा गया है।'[160] गरीबी, निर्धनता, बेरोजागारी, भूख आदि ने भारतीय आम जनता को अपने शिंकजे में दबोच लिया है। जीने की अदम्य इच्छा के कारण आगे आने वाले दशकों में भी वह विभिन्न मोर्चे पर संघर्ष कर रही है। नवें का दशक तथा उसके बाद की हिन्दी कहानियों पर आधुनिकीकरण और भूमंडलीकरण के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है। भूमंडलीकरण के कारण भारत की कृषि–व्यवस्था और किसान गहरे संकट में है। भारत के गाँव अभी सामंतवाद और उपनिवेशवाद के प्रभावों से मुक्त नहीं हुए है, फिर भी वे भूमंडलीकरण की आंधी में तहस–नहस हो रहे हैं। इस दशक में संचार–माध्यमों के फैलाव और मीडिया– क्रांति के बावजूद गाँव की कथा–व्यथा कहीं दिखाई–सुनाई नहीं पड़ती। शहरी संभ्रात वर्ग तो गाँव से कटा था ही, दृश्य और प्रिंट माध्यमों की गाँव से बेरूखी से गंवई क्रंदन घुट कर रह गया है।

1990 के बाद मंडल कमीशन एवं आर्थिक उदारीकरण तथा वैश्वीकरण की घटनाओं ने राष्ट्र की राजनीति और विकास की प्रक्रियाओं को गहराई के साथ

प्रभावित किया। 1992 के बाबरी–मस्जिद ध्वंस की उपजाऊ मिट्टी पर उगी साम्प्रदायिकता की बेल बढ़ती फैलती गई, उसकी पकड़ सत्ता पर मजबूत हुई। बेरोजगार युवक कभी बाबरी–मस्जिद तोड़ने में इस्तेमाल किए जाते हैं तो कभी सेंट स्टीफन के मासूम बच्चों को जलाने में या गुजरात के नरसंहार में।[111] बाबरी मस्जिद नाम राम– जन्मभूमि संबंधी विवाद और उसके बाद बाबरी मस्जिद के विध्वंस के साथ साम्प्रदायिकता की जो आंधी चली उससे देश के शहर ही नहीं गाँव भी प्रभावित हुए। देश की राजनीति ही नहीं सामाजिक संवेदनशीलता पर भी उसका असर पड़ा, सामाजिक संबंध के साथ–साथ सांस्कृतिक समझ में भी तरह–तरह के बदलाव आए और धार्मिक चेतना ही नहीं इंसानी रिश्ते भी शंका तथा संदेह के शिकार हुए। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर मोहम्मद आरिफ ने जानदार भाषा में 'मिया' नामक की असरदार कहानी लिखी है। इस कहानी में इंसान और इंसानियत को तोड़ने वाली साम्प्रदायिक स्थितियों का प्रभावशाली चित्रण है और मानसिक उथल–फथल का बारीक ब्यौरा भी प्रस्तुत किया है।'[112]

आजादी के बाद पचास वर्षों की राजनीति ने गाँव की जिंदगी से जाति के प्रभाव को मिटाने के बदले उसे बढ़ाया ही है। बिहार और उत्तर प्रदेश में कहीं–कहीं जातिभेद जाति युद्ध का रूप ले रहा है। गाँव के जीवन में व्याप्त बर्बरता को ही 'विषबेल' कहानी में चित्रित किया गया है। उन जनसंहारों का एक कारण जाति संघर्ष भी है। यह कहानी इस बात की ओर भी इशारा करती है, कि ऐसे संहारो और संघर्षों का सबसे अधिक शिकार होती है स्त्री, वह चाहे जिस जाति की हो। जयनंदन ने विभिन्न संघर्षशील जातियों की मानसिकता और गतिविधियों के साथ–साथ सामाजिक "ह्रास पर उसके पड़ने वाले प्रभावों पर भी ध्यान दिया है।'[113] एस.आर. हरनोट की कहानी 'मुट्ठी में गाँव' इस सच्चाई की ओर संकेत करती है, कि गाँव अब भी सामंती व्यवस्था शोषण और आतंक के रूप में मौजूद है। पंचायत नाम की संस्था भी शोषण की इस प्रक्रिया में सवर्णों और अमीरों के हाथों का खिलौना बन जाती है।'[114]

हाल के वर्षों में देश के गाँव तेजी से बदल रहे हैं। गाँव के कारीगर तबाह हो रहे हैं। वे अपना पुश्तैनी पेशा छोड़कर रोजी–रोटी के लिए दर–दर भटकने को

मजबूर हो रहे हैं। जब खेती–किसानों के काम से हल–बैलों का पत्ता साफ हो रहा था तभी मंसा बढ़ई के हुनर की कद्र घटने लगी थी। उसके बाद उसकी लोहसारी में भट्टी कभी–कभी ही लगता था। जैसे–जैसे समय बीतता जा रहा था, वैसे–वैसे हालत और भी ज्यादा बिगड़ती जा रही थी। अब मंसा चाचा को खाने के लाल पड़े थे।'[115] इस स्थिति से मजबूर होकर मंसा और उसका परिवार हथियारों के निर्माण और उन्हें बेचने का कारोबार करता है। परिणामस्वरूप गाँवों में आतंक की छाया मंडराने लगती है। 'प्रेरणास्रोत' में संजीव ने गाँव के जीवन में मौजूद भौतिक और भावात्मक अंतरों और अंतरालों को व्यक्त हुए एक ऐसी संघर्ष की कथा कही है, जो बाहर से भोली और निश्चल लगती है, लेकिन चेतना के स्तर पर अन्याय का मुख प्रतिरोध करती है।'[116]

भूमंडलीकरण के खुले बाजार में लूट के नए–नए दरवाजे खोले। घोटालों के नए–नए आयाम देखने को मिले। वर्ष 2002 भारतीय इतिहास का खूनी पन्ना बन कर आया, जिसे गुजरात के निर्दोषों की हत्या से रंगा गया और साम्प्रदायिकता की खाद से वर्ष 2003 में सत्ता की फसलें लहलहाती देखी गई। एक ओर हम विश्व–बैंक के दबाव में लाभप्रद सरकारी संस्थाओं को विदेशियों के हाथों में बेचते रहे हैं, वहीं गाँवों के बदहाल किसान आत्महत्या करने को मजबूर हुए। चाहे वे पंजाब के सम्पन्न किसान हो या आंध्र प्रदेश या बिहार के गरीब किसान।[117]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'शवयात्रा' में चमारों के गाँवों में एक बलहार परिवार की उपेक्षा और यातना का चित्रण है।[118] सुभाषचंद्र कुशवाहा की कहानी 'तिलेसरी' गाँव की जिंदगी को समग्रता में व्यक्त करती है। इस कहानी से जाहिर होता है कि गाँव में सबकी दुनिया एकदम अलग है, इसलिए कहानीकार ने लिखा है कि– ''आज यहाँ से अट्ठाहसें उठती है, वहीं तिलेसरी का रूदन जन्म लेता है।' कहने का तात्पर्य यह है कि गाँव में अमीरों की दुनिया में सुख और खुशी है तो गरीबों की दुनिया में दुख और निराशा है।''[119]

समकालीन कहानी में परम्परा और आधुनिकता के द्वंद्व को समझकर ही उसकी विशिष्टताओं को रेखांकित किया जा सकता है। आज कहानी में अपने

विकास की कई मंजिले पार कर ली हैं। आज उसे किसी संकीर्ण नारे की जरूरत नहीं है। आज गहन मानवीय और सामाजिक संवेदना के प्रति वह कहीं अधिक जागरूक है। बनावटीपन अब उसकी सीमा नहीं रहा। परन्तु उसकी संभावनाएँ उसकी रचनात्मकता की शर्त पर ही स्वीकार की जा सकती हैं। इस रचनात्मकता का जीवन की स्थितियों के साथ कोई विरोध नहीं है। जीवन को कितना कुछ जाना जा सकता है और रचनात्मक बनाया जा सकता है– यह कहानी के लिए महत्वपूर्ण है। आज यथार्थ को एकतरफा या चलताऊ ढंग से देखना–समझना यथार्थ को उसकी सम्पूर्ण संरचना में समझना नहीं कहा जाएगा। संश्लिष्ट यथार्थ को रचना की शक्ल देना आसान नहीं। बलराम, संजीव और अखिलेश की कहानियों में यह तथ्य है। पुन्नी सिंह, महेश कटारे, अब्दुल बिस्मिल्लाह और गंभीर सिंह पालनी की कहानियाँ ज्यादा गहरे छूती हैं। आज जिंदगी के सवाल कहीं अधिक उलझे और पेचीदा हो गए हैं। इसलिए यथार्थ को एक सामाजिक संसार में ही पहचाना जा सकता है। यह यथार्थ रहस्य के आवरणों को उलट देता है।[120]

समकालीन कहानी के रचनाकार अपने आधार से जुड़े और मनुष्य की दुनिया के भीतर घुसे। अनेक प्रकार के व्यवधान और सीमाएँ यहाँ अपने आप टूट गई। मजदूर–किसान या शोषित वर्ग के जीवन पर लिखकर प्रगतिशील कहलाने का फैशन खत्म हो गया। कहानीकार के लिए अपने समय की संघर्षशील जातीयता की खोज महत्वपूर्ण हुई। फलतः इस संघर्ष का क्षेत्र भी व्यापक हुआ। शासकीय मशीनरी की विकृतियों से जनता के भीतर एक नया मोहभंग नौंवे दशक में पैदा हुआ। मजदूर और किसान जनता के व्यापक आंदोलन का हिस्सा बने। सरकार की कल्याणकारी योजनाओं और संस्थाओं ने किस तरह से अमीर और गरीब के फर्क को चौड़ा और गहरा किया है तथा किस तरह से उसने नए भ्रष्टाचार का सरकारी दरवाजा खोला है, सुरेश कांटक की कहानी 'मिट्टी की प्रकार' इस तथ्य का प्रमाण है। महेश कटारे, अखिलेश, कर्मेन्दु शिशिर और पुन्नी सिंह की कहानियों में ये तथ्य ज्यादा उद्घाटित हुए हैं। इसी के साथ एक नए किस्म का औद्योगिक पूँजीवाद इस देश में तेजी से पनपा है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों का सबसे दर्दनाक खिलवाड़ भोपाल की गैस त्रासदी है। मीडिया ने नई समस्याएँ और चुनौतियाँ उत्पन्न की हैं।

समकालीन कहानी के सामने ये चुनौतियाँ आश्चर्यजनक रूप से विकसित हुई हैं। यहाँ बदलते और उजड़ते गाँव हैं, समस्याग्रस्त किसान है, बढ़ते हुए शहर और कोठियाँ हैं, फैक्टरी और झोपड़ियाँ हैं, श्रमिक हैं, संपन्न वर्ग की कॉलोनियाँ है। लूट, अपहरण और आतंक का कारोबार करने वाला वर्ग है, राजनीति है, बाढ़ है, सूखा है। इसलिए विस्थापन और शरणार्थियों की समस्या भी है। यहाँ अमीरी और गरीबी का जो द्वंद्व है, संघर्ष है, वह पूर्व की कहानी से भिन्न है। आज सर्वत्र वर्गभेद की दीवार एक जैसी जहरीली है, इसे समकालीन कहानी से जाना जा सकता है।[121]

पिछले कुछ वर्षों में हिन्दी क्षेत्र में कोई बड़ा किसान आंदोलन नहीं हुआ, लेकिन छोटे–छोटे किसान आंदोलन होते रहे हैं और आज भी चल रहे है। हिन्दी के क्षेत्र के गाँव में धीरे–धीरे परिवर्तन की इच्छा जाग रही है और उसके लिए छोटी–बड़ी कोशिशें भी हो रही हैं। इसलिए जरूरत है, भारतीय ग्रामीण समाज के परिवेश को गहराई से जानने की समझने की, जो कि हमें समकालीन सामाजिक जीवन की विसंगतियों एवं समस्याओं को समझने में मदद देगा।

संदर्भ ग्रंथः–

1. देसाई, ए.आर. : रूरल सोशियोलॉजी इन इंडिया, पृ.13
2. गुप्त, डॉ. ज्ञानचंदः स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ. 247
3. Dubey, S.C: Indian Society, Pg. 84
4. वहीं, पृ. 84
5. वहीं, पृ. 84
6. वहीं, पृ. 86
7. देसाई, ए.आर.ः भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ. 14
8. Yogendra Singh, "The Changing Pattern Socio- relations in the countryside", (Lucknow University, 1958)
9. C.T. Met calfe, quoted in B.B. Mishra, Op, cit., Pg. 56
10. सिंह, योगेन्द्रः भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण, पृ. 309
11. Louis dumont, "village studies", Contributions to Indian sociology. No.1 (April 1957), P.g. 25-26.
12. Henry Orenstein, gaon: confilict and Cohesion in an Indian Village (Princeton, New jerrey: Princeton university Press, 1965) Pg. 232
13. वही, पृ. 161–164
14. देसाई, ए.आर.ः भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ.196
15. पाण्डेय, डॉ. मैनेजर : क्या आपने 'वज्रसूची' का नाम सुना है? पृ.19
16. चौबे, देवेन्द्र : समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, पृ.25
17. शुक्ल, एन.केः द सोशल स्ट्रक्चर ऑफ एन इंडियन विलेज, पृ. सं 8
18. वही. पृ.8
19. देसाई, ए. आर.ः भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, पृ.15
20. सिंह, योगेन्द्र : भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण, पृ. 312
21. K.. Ishwaran, Tradition and Economey in Village India Pg. 41
22. Kolenda "Toward a Model fo the Hindu Jajmani System", Human Organization. Vol. 22, No.1 (Spring 1963), pg 11-32

23. सहाय, जी. आर. : विलेज स्टीडज इन इंडिया, पृ. 48
24. शर्मा, के एल. : भारतीय समाज, एनसीईआरटी, 12 वीं कक्षा, पृ. 55
25. संदर्भ–1: पूंजी, खण्ड– 1 काल मार्क्स, अध्याय 15 अनुभाग–4 संदर्भ–2 : आज का भारत, रजनी पामदत्त, मैकमिलन इंडिया, दिल्ली, 1985, पृ.111
26. श्रीनिवास, एम.एन. (सं): भारत में गाँव, पृ.13
27. दूबे, श्यामाचरण: भारतीय समाज, पृ. 77
28. देवी, महाश्वेता और निर्मल घोष: भारत के बंधुआ मजदूर, पृ.56
29. वही, पृ. 57
30. वही, पृ. 86
31. शर्मा, के.एल. : भारतीय समाज, पृ.55
32. पाण्डेय, मैनेजर: क्या आपने 'वज्रसूची' का नाम सुना है?', पृ.19
33. सिंह, तारलोक: पोवर्टी एण्ड सोशल चेंच, पृ. 26
34. वही, पृ. 24
35. नागला, बी.के.: भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन (Indian Sociological Thought), पृ. 182
36. वही, पृ. 182
37. Raj Krishna, "Agrarian Reform in India": The Debate on Celings, Economic Development and Cultrual Change. Vol. VII, No.3, Part I (April 1959), Pg-302-17
38. सिंह, योगेन्द्र: भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण, पृ.325
39. लुकाच, ग्यार्ग: इतिहास और वर्ग चेतना, पृ. 126
40. वही. पृ. 137
41. पटनायक, किशन: किसान आंदोलन: दशा और दिशा, पृ.8
42. जनसत्ता, सं. प्रभाष जोशी, संपादकीय से साभार, 6 अप्रैल 2008
43. वही
44. शर्मा, के.एल. : सरल सोशियोलॉजी इन इंडिया, पृ. 135

45. दृष्टिकोण मंथन 01–15 दिसम्बर 2007 में संकलित राष्ट्रीय सहारा के संपादकीय लेख से साभार।
46. मोहन्ती, बी : संपादक, एग्रीकल्चरल एण्ड रूरल डेवलपमेंट, पृ. 177
47. दृष्टिकोण मंथन–16–21 दिसम्बर 2007 में एम.एस स्वामीनाथन के लेख से।
48. केसर, डॉ. कीर्ति : स्वातंत्र्योत्तरहिन्दी कहानी का समाज–सापेक्ष अध्ययन, पृ. 13
49. अवस्थी, देवी शंकरः साहित्यिक विधाओं की प्रकृति, पृ. 140–141
50. वही, पृ. 114
51. तिवारी, डॉ. नित्यानंद : साहित्य का स्वरूप, पृ. 82
52. वही, पृ. 82–83
53. अवस्थी, देवी शंकरः साहित्यिक विधाओं की प्रकृति, पृ. 140–141
54. मोहन, वीरन्द्रः समकालीन कहानी परम्परा अैर परिवर्तन, पृ. 10–11
55. वही, पृ. 12–13
56. वही, पृ.13
57. केसर, डॉ. कीर्तिः स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का समाज–सापेक्ष अध्ययन, पृ. 13
58. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ. 12
59. वही, पृ. 13
60. वहीं, पृ. 12
61. वहीं, पृ. 13
62. यादव, राजेन्द्रः कहानी स्वरूप और संवेदना, पृ.29
63. सिंह, शुभ्रा : प्रेमचंद साहित्य में हाशिए का समाज, पृ.10
64. वहीं, पृ.11
65. चौधरी, सुखबीरः पीजेंट्स एंड वर्कस मूवमेंट इंडिया (1901–1925),पृ.17
66. चंद्र, विपिनः भारत का स्वतंत्रता संघर्ष, पृ. 130
67. मुधरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ.33
68. वहीं, पृ. 33
69. वहीं, पृ. 33

70. वहीं, पृ. 33
71. विमल, गंगा प्रसादः आधुनिक हिन्दी कहानी, पृ. 13
72. वही, पृ. 13
73. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ. 45
74. वहीं, पृ. 51
75. केसर, डॉ. कीर्तिः स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी कहानी का समाज–सापेक्ष अध्ययन, पृ. 14
76. वर्मा, धनंजय : हिन्दी कहानी का सफरनामा, पृ. 237
77. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ. 90
78. वर्मा, धनंजयः हिन्दी कहानी का सफरनामा, पृ.29
79. वहीं, पृ. 238
80. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ.153
81. मार्कण्डेयः भूदान, पृ. 64
82. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ. 92
83. वहीं, पृ. 96
84. विमल, गंगा प्रसाद : आधुनिक हिंदी कहानी, पृ. 156
85. वहीं, पृ. 157
86. वहीं, पृ. 160
87. वहीं, पृ. 164
88. वहीं, पृ. 164
89. वहीं, पृ. 164
90. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ.170
91. वहीं, पृ. 171
92. वहीं, पृ. 171
93. वही, पृ. 171
94. विमल, गंगा प्रसादः आधुनिक हिंदी कहानी, पृ. 117
95. वही, पृ. 118

96. मोहनन, डॉ. एनः समकालीन हिंदी कहानी, पृ. 46
97. वही, पृ. 47
98. वही, पृ. 47
99. सिंह, पुष्पालः समकालीन हिन्दी कहानी, पृ. 53
100. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, , पृ. 183
101. मोहनन, डॉ. एन.ः समकालीन हिन्दी कहानी, पृ. 48
102. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ. 183
103. मोहनन, डॉ. एन. : समकालीन हिन्दी कहानी, पृ. 52
104. वही, पृ. 54
105. वही, पृ. 55
106. चौबे, देवेन्द्रः समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, पृ.163
107. वही, पृ. 116
108. सारिका, जनवरी, 1975, पृ.14
109. वही, पृ.118
110. वही, पृ. 120
111. कुशवाहा, सुभाषचंद्रः कथा में गांव, पृ. 16
112. वही, पृ. 11
113. वही, पृ. 11
114. वही, पृ. 10
115. वही, पृ. 12
116. वही, पृ. 7
117. वही, पृ. 17
118. वही, पृ. 9
119. वही, पृ. 8
120. मोहन, वीरेन्द्रः समकालीन कहानी परम्परा और परिवर्तन, पृ.17
121. वही, पृ. 18

2.1. गाँव की राजनीतिक जिंदगी

हिन्दी साहित्य में गाँव के ऊपर जिन सशक्त कहानीकारों, रचनाकारों ने लिखा है उनमें प्रेमचंद सर्वोपरि हैं, किन्तु प्रेमचंद के गाँवों में राजनैतिक हलचल दिखाई नहीं पड़ती, जबकि उनकी रचना के आधार स्रोत गाँधी 1917 से ही गाँवों में जाकर किसानों के बीच राजनैतिक चेतना जगा रहे थे। इसका कारण यह हो सकता है कि प्रेमचंद की निगाह किसानों की दयनीय स्थिति पर थी। तत्कालीन सामाजिक– आर्थिक तंत्र और सरकारी तंत्र में किसान बुरी तरह पिस रहा था, ऐसे में मजदूरों और किसानों का राजनैतिक जागरण बहुत प्रभावी नहीं था। इसी समय महाजनी प्रथा का उदय हुआ, जो पूरे जमींदारी तंत्र में स्नेहक का काम करता था। सामाजिक और धार्मिक रूढ़ियाँ अलग ही लोगों की जिंदगी में घुन की तरह व्याप्त थी। स्वतंत्रता के बाद देश की स्थिति बदलती है और गाँव में राजनैतिक चेतना का जागरण होता है। रेणु जी की रचनाओं में इसी राजनैतिक चेतना का चित्रण किया गया है। 'मैला आँचल' में रेणु ने लगभग सभी पार्टियों की उपस्थिति दर्ज करायी है। काँग्रेस पार्टी के नेता रामानंद की मृत्यु को गाँधीवादी मृत्यु के रूप में दिखाया है। काँग्रेस के अलावा रेणु के गाँव में जनसंघ, समाजवादी पार्टी, कम्युनिस्ट पार्टी भी है यहीं से हिन्दी साहित्य में गाँवों का राजनैतिक परिदृश्य बदलता दिखाई पड़ता है। आजादी के बाद जैसे–जैसे देश में राजनैतिक स्थितियाँ मजबूत हुई वैसे–वैसे गाँवों में भी राजनीतिक हलचल तेज हुई। गाँवों में जो राजनैतिक पहुँच हुई उसके दो कारण हो सकते हैं, एक तो विभिन्न वर्गों का उत्थान एवं उनकी पार्टी का निर्माण हुआ, दूसरा गाँवों में मजदूरों, सीमांत किसानों अथवा दलितों की सामजिक– आर्थिक स्थिति बदतर हुई। इनका शोषण ही राजनैतिक हस्तक्षेप का मूल कारण था। इसी राजनैतिक हस्तक्षेप को हम कम्यूनिस्ट पार्टी, नक्सलबाड़ी आंदोलन, माओवादी आंदोलन आदि के रूप में देखते हैं। दूसरी ओर बाबरी मस्जिद विध्वंस के बाद गाँवों में भी साम्प्रदायिकता की भावना पनपी है तथा भाजपा, विश्व हिन्दू परिषद, बंजरंग दल आदि समूह गाँवों के राजनैतिक परिदृश्य को बदलने की कोशिश कर रहे हैं। पंचायती राज व्यवस्था को संवैधानिक दर्जा मिलने के बाद

गाँवों में राजनैतिक जागरूकता बढ़ी है तथा विभिन्न जातियों का समूहीकरण हुआ है।

भारत जैसे कृषि प्रधान देश में वर्षों पहले से सामाजिक– आर्थिक विषमता रही है। इसका कारण सांमती तथा जमींदारी प्रथा रही है, जिसमें संसाधनों पर प्रभु वर्ग का एकाधिकार होता था। मार्क्सवाद के आविर्भाव से लोगों में समाज को देखने के लिए एक नई दृष्टि आई। गाँव का मजदूर–किसान भी इससे अछूता न रहा। भारत में 1925 में स्थापित कम्यूनिस्ट पार्टी धीरे–धीरे अपना विस्तार गाँवों तक करती रही। मार्क्स का मानना था कि ''जब वर्ग चेतना का उभार होता है तो प्रतिकूल परिस्थिति में दबा हुआ वर्ग यानी सर्वहारा वर्ग को महसूस होने लगता है कि उसकी और समाज की मुक्ति शक्तिशाली शासक वर्ग का तख्ता उलटकर ही हो सकता है। दूसरे शब्दों में वर्ग– चेतना का मतलब है समाज को मौलिक रूप से बदलने की जरूरत के प्रति सजग हो जाना। लेकिन यह क्रांति एक बार का मामला नहीं है। यह लंबा संघर्ष है।''[1] यह विचारधारा धीरे–धीरे जंगल की आग की तरह फैली और पूरे देश को इसने प्रभावित किया। 1967 में हुए नक्सलबाड़ी आंदोलन से मजदूरों– किसानों ने सशस्त्र लड़ाई शुरू की, इसके बाद सी.पी. आई (एम.), पार्टी यूनिटी (1983), सी.पी.आई (एम.एल) आदि कई संगठनों का निर्माण हुआ। मार्क्सवादी कम्यूनिस्ट एवं भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी (मा.ले) दो मुख्य राजनीतिक पार्टियाँ हैं जो गाँवों की राजनीति से जुड़ी है एवं चुनावों में भाग लेती है। किन्तु ये राजनीतिक पार्टियाँ आंतरिक कलह से ग्रस्त हैं। हिन्दी साहित्य में सृंजय की कहानी 'कामरेड का कोट' कम्यूनिस्ट पार्टी के इन्हीं अंतर्विरोधों को दर्शाती है। देवेन्द्र चौबे इस कहानी के बारे में लिखते हैं– ''जनसंघर्षों को नेतृत्व देने वाली और वाजिब हक की लड़ाई वाली पार्टी के नेताओं के वास्तविक चरित्र पर व्यंग्य करती यह कहानी एक प्रतिबद्ध कार्यकर्ता की मनोव्यथा किस तरह नेतृत्व की ताकत न बनकर बिखराव का प्रतीक बन जाती है, उसकी ओर भी यह कहानी संकेत करती है।''[2] इस कहानी में एक तरफ पार्टी के चार कार्यकर्ताओं की हत्या कर पेड़ से लटका दिया जाता है, दूसरी ओर पार्टी के बुद्धिजीवी खाने पीने में मशगूल रहते हैं। ये पार्टी के कर्मठ कार्यकर्ता कमलकांत उपाध्याय के निर्णय को 'प्री–मेच्योर्ड स्टेप'

कहकर धैर्य रखने की बात करते हैं। कमलाकांत उपाध्याय पार्टी के लोगों से कहते हैं– ''कामरेड दुस्साहस अगर किसी ने किया है तो मजदूरों की भूखों ने। खेत लूटने को किसी ने उकसाया है तो मजदूरों के खाली पेट ने। पेट भरा हो तो धैर्य रखा जा सकता है। लेकिन भूखे पेट को धर्म कहाँ?''[3] यह कहानी पार्टी के अंतर्विरोधों के साथ–साथ यह भी चित्रित करती है कि मजदूरों के पेट जब खाली हों तो इनके लिए धर्म एवं नैतिकता नाम की कोई चीज नहीं रह जाती है और ये चोरी करने के लिए बाध्य हो जाते हैं।

मदनमोहन की 'चंपा' कहानी से यह जाहिर होता है कि गाँव की स्त्री बदल रही है। वह सजग और सचेत हो रही है। साथ ही पराधीनता के व्यापक अर्थ को समझ रही है। हिन्दी क्षेत्र के गाँवों में जाति और वर्ग के संबंध आपस में मिलकर शोषण और दमन की प्रक्रिया निर्मित करते हैं। उच्चवर्ग और उच्चवर्ग के लोग गरीब और छोटी जाति की स्त्री के चरित्र पर सबसे पहले और सबसे अधिक आक्रमण करते हैं, 'देवमनी का ना है छोकड़ा! लुगाई के आते ही मारा गया देवमनी, फिर पेट से कब हुई लुगाई! मनोहर का है, मनोहर का!.... ''सच–सच बता चंपिया, छोकड़ा देवमनिया का है कि मनोहर का? ''जवाब दिया था उसने, ''ना देवमनी का है, ना मनोहर का, ई छोकड़ा, बड़कऊ मिसिर का है!'' ..... सांप सूंघ गया था मिसिर को! ..... पड़ोस की गुलबी काकी ने समझाया था उसे, ''बड़कवा के मुंह काहे लगती है ..... मत भूल कि देवमनी के मरावे के तिकड़म मिसिर ने रचा था! ''जानती हूं काकी, मगर सुन–सुन कर कान पकुस गए!''[4] गाँव की स्त्री की पराधीनता जाति, रीति–रिवाज और ग़रीबी से जुड़ी हुई है। इस देश में हाल के वर्षों में एक ऐसी राजनीति चल रही है जो अन्यायी और शोषक–सत्ता का विरोध करने वाले हर व्यक्ति को असामाजिक कहकर उसे मुठभेड़ में मारना अपना कर्त्तव्य है। मदन मोहन की इस कहानी में चंपा के आत्मसंघर्ष और सामाजिक संघर्ष के साथ–साथ हत्या की राजनीति के विरूद्ध संघर्ष की ओर संकेत है। अन्याय का विरोध करने के लिए कहानी का नायक देवमनी पार्टी का झंडा उठा लेता है। वह अपनी पत्नी चंपा से कहता है– ''अपने हक सम्मान के लिए पाल्टी का झंडा उठाये है चंपा। हमारी यह लड़ाई हक की लड़ाई है, आजादी की लड़ाई है।''[5] कहानी का

मूल कथ्य है कि अन्याय और शोषण गाँवों में लोगों को नक्सली विचारधारओं की ओर उन्मुख करता है और सामंत वर्ग के लिए कानून जैसी चीज एक खिलौना है जिसे किसी भी तरह से इस्तेमाल किया जा सकता है, ''सिपाही बोला, ''अपने यार मनोहर का पता बता, तो मत चल थाने!'' ..... ''पांव पंडू सरकार, कंता के बाप के संग देखा था मनोहर को, फिर ना देखा!'' सिपाही बोला, ''झूठ बोलती है! हमको पता है, रात को आता है मनोहर तेरे पास!'' .... गुलबी काकी बोली, ''मनोहर के आने पर हम आपको खबर कर देंगे सरकार, इस गरीब को छोड़ दें। यह बेकसूर है..... ''[6] पुलिस प्रशासन और सरकार की नजर में ये शोषित लोग मुजरिम हैं, क्योंकि इन्होंने कानून को अपने हाथों में ले लिया है। किन्तु सामंती लोग जो कानून का इस्तेमाल कर बेकसूरों को फंसाते है मुजरिम नहीं है, क्योंकि सत्ता इन्हीं की है।

चंद्र किशोर जायसवाल की कहानी 'हिंगवा घाट में पानी रे' के गाँव वाले हिंगवा घाट पर फूल नहीं बनने के कारण असहाय और असुरक्षित है। सरकार द्वारा फल बनवाए जाने की आशा भी उन्हें नहीं रही फिर भी नेताओं द्वारा फल बनवाने के आश्वासनों पर जीते हुए भनटा, जैसे सीधे–सादे ग्रामीण चंदा देने से पीछे नहीं हटते। वह जानता था कि ''वे लोग झूठ बोल रहे थे, जनता को ठग रहे थे। इतनी दूर से आए थे, इतनी दौड़–धूप कर रहे थे, चिल्ला रहे थे, उछल–उछल कर भाषण दे रहे थे, किसलिए? अपने बाल–बच्चों के लिए ही न? पेट भरने के लिए आदमी क्या–क्या धंधा नहीं कर रहा है? अब अगर मुझे उनके बाल–बच्चों का ख्याल आ ही गया, तो क्या बुरा हो गया? जैसे भिखमंगे को हम कुछ दे देते हैं। वैसे ही उन्हें भी कुछ दे दिया।''[7] भनटा जैसे खुदगर्ज और सीधे–सादे ग्रामीणों की खुदगर्जी और सीधेपन को गँवारपन समझा जाता है और इसी का लाभ उठाकर सरकारी मुलाजिम, गाँव के सरपंच, साहूकार और इनके गुर्गे सरकारी योजनाओं का बंदरबाँट करते रहते हैं।[8]

हरिहर वैष्णव की कहानी 'मुनादी' में व्यवस्था के इसी खोखलेपन को उजागर किया गया है। दयानंद पांडे की 'मेड़ की दूब' कहानी गाँवों के प्रति सरकार की अपेक्षा, कोरी बयानबाजी और ढपारेशंखी योजनाओं पर कुठराघात करती है। सरकारी अधिकारियों के साथ ही स्थानीय भूस्वामी, साहूकार और दबंग लोग भी

निरीह ग्रामीणों का शोषण करते हैं। शैलेश पंडित की कहानी 'वंदे' भगवती का परमुख जी, विश्वसनीयता के आवरण में अपनी व्यापारिक बुद्धि से छल–कपट करके निरीह ग्रामीणों की संपत्ति हड़प कर हमेशा बँधुआ मजदूर बनाए रखने की मानसिकता में जीता है। कहानी के मस्तूल मियाँ, नन्हकू, रामकिसुन उपधिया जी और नागपत्ती बाबा चाहकर भी विद्रोह नहीं कर पाते और परमुख जी की चिकनी–चुपड़ी बातों में आ जाते हैं। सीधेपन और गरीबी के कारण गाँवों में न केवल आर्थिक शोषण होता है वरन् शारीरिक शोषण भी होता है।[9]

भारतीय राजनीति में जातीयता एवं साम्प्रदायिकता का जन्म हमारी नव प्राप्त स्वतंत्रता के साथ हुआ। साम्प्रदायिकता भी अंग्रेजों की ही देन है। हिन्दू–मुस्लिम सदियों से एक होकर यहाँ रह रहे थे। जीवन में एकसरता थी, स्वाधीनता के पश्चात् भी हिन्दू–मुस्लिम को लेकर लड़ाईयाँ होती रही है। साम्प्रदायकिता के आग को आज भी भड़काया जाता है। ग्राम–जीवन में जातीयता एवं साम्प्रदायिकता दोनों ही वहाँ की राजनीति के अंग बन चुके हैं। अज्ञान और अशिक्षा दोनों ग्रामवासियों को इससे ऊपर नहीं सोचने देते हैं। सुरेश कांटक की कहानी 'अथ श्री सत्यनारायण कथा' में दो भिन्न सम्प्रदायों और धर्मों के व्यक्तियों की प्रगाढ़ मित्रता के उच्च मूल्यों को चित्रित करते हैं, ''यूं तो वर्षों से रामदीन और सत्तार चाचा की गाढ़ी दोस्ती चली आ रही थी।... एक–दूसरे से गाढ़ी मित्रता और लेन–देन का व्यवहार भी था। जब भी कोई गाढ़ा वक्त आता, दोनों एक–दूसरे की मदद करते। मिलजुल समस्या का निदान सोचते और सिर आये मौसम में भी अपनी जीविका के उपाय खोजते।''[10] परन्तु गाँव में सामाजिकता आज भी धर्म और जाति की संकीर्ण सीमाओं को नहीं तोड़ पा रही है। यद्यपि सुरेश कांटक की कहानी 'अथ श्री सत्यनारायण कथा' के सत्तार चाचा जैसे लोग भी है, जो हिन्दू–मुस्लिम में कोई भेदभाव नहीं समझते हैं, सबकी हर प्रकार से मदद करने को तैयार रहते हैं, तो दूसरी तरफ गाँव के पंडित जी, सतनासी बाबा लोग भी है, जो हिन्दू मुस्लिम धर्म को लेकर उन्हें अपमानित करते हैं। साम्प्रदायिकता की भावना को बढ़ाने का प्रयास भी करते हैं, ''मुसलमान मलेच्छ है। वे सदा हमारा धर्म नष्ट करने पर तुले रहते हैं। भगवान के मंदिर को तोड़कर उन लोगों ने मस्जिद बना दिया, तो और क्या नहीं

कर सकते! खाते हैं हिंदुस्तान में, गाते हैं पाकिस्तान की।''[11] यहाँ कहानीकार वर्तमान परिवर्तित ग्रामीण परिवेश में गाँव के लोगों की मानसिकता और मूल्य बोध को चित्रित करते हैं। जाति–व्यवस्था का भेदभाव सभी इंसानी रिश्तों को अस्वीकार करता है, ''इंसानियत के खिलाफ और हैवानियत के करीब होते हैं ये। सियासत की स्याह साजिश के शिकार, ये स्वार्थी अपने स्वार्थ के लिए धरती को बांटते हैं, चाहे पाक हो या हिंद, हर जगह हमारे–तुम्हारे जैसे गरीबों और मजलूमों की एक दशा है।''[12] उसी प्रकार एक अन्य कहानी 'प्रवचन' में गाँवों के भोले–भाले लोगों को जैसे पाखण्डी लोगों द्वारा धर्म–जाति पर आधारित बातों से उनके मन में वैमनस्य के बीज बोने की कोशिश करते है, गो माता के वध में जितना हाथ मुसलमानों और ईसाइयों का है, उतना किसी का नहीं है। इन लोगों को समाज में नहीं रहने देना चाहिए।''[13] गाँव की जिंदगी में जाति–व्यवस्था का प्रभाव कम होने की बजाए बढ़ा ही है, जोकि जाति युद्ध का रूप लेता नजर आता है, ''यही है साम्प्रदायिकता दंगा कराने वाले लोग। धर्म का परदा डाल आपस में बैर–भाव फैलाने वाले लोग।''[14] साम्प्रदायिक वैमनस्य की से ग्रसित सबसे ज्यादा लोग गाँव में ही दिखाई देते हैं, जिन्हें सुरेश कांटक ने इन कहानियों में अभिव्यक्त किया है। जात–पात, धर्म को लेकर लड़ाईयाँ भी गाँव में होने लगी है। ग्राम–जीवन के समग्र ढांचे में जातीयता की भावना उत्पन्न हो गई है, जो सब राजनीति और राजनीतिज्ञों के क्रियाकलापों का ही प्रतिफल है, जिसका गाँव की सामाजिक जिंदगी में कहीं–न–कहीं प्रभाव पड़ता ही है।

हिन्दी क्षेत्र में दलित जागरण का परिणाम है राजनीति में बसपा का उदय। विजय पंडित की कहानी 'हेलीकॉप्टर' में बसपा की राजनीति और रीति–नीति की वास्तवकिता को बारीकी से समझा और व्यक्त किया गया है। कहानी इस बात की ओर संकेत करती है कि जैसे दूसरी पार्टियाँ झूठे नारों और वादों के सहारे चलती हैं वैसी ही रीति–नीति बसपा की भी है। इससे यह भी जाहिर है कि बसपा के भीतर पार्टी की संरचना में नाममात्र का भी लोकतंत्र नहीं है। मायावती के मुख्यमंत्री बनने तथा बहुजन समाजवादी पार्टी के आविर्भाव से गाँवों में दलित राजनीति के अंतर्विरोधों के कारण निम्न जातियों का भला नहीं हो पाया है। दलित राजनीति हो

या पिछड़ी जाति की राजनीति इनमें सत्तासीन व्यक्ति के अलावा कोई अन्य नेता प्रतिनिधि के रूप में नहीं उभर पाता है। बसपा का उभरता हुआ नया नेता कहता है– ''अरे–अरे क्या कह रहे हैं आप लोग? बिल्कुल समझदारी नहीं है। अगर किसी ने हाईकमान को यह खबर कर दी कि आप लोग मेरे नाम का नारा लगा रहे हैं, तो हमारा कैरियर ही खत्म हो जाएगा। कुछ तो विवेक और बुद्धिमानी से काम लीजिए। हाईकमान को उनके नाम के नारे के अलावा और कोई नारा पसंद नहीं। समझे की नहीं?''[15] यही नहीं वह यह भी कहता है, ''हमारी नेता जहाँ बैठती हैं उनकी कुर्सी ही अकेली होती है, बाकी सब ज़मीन पर।''[16] यह है बसपा के भीतर का लोकतंत्र, जो राजनीतिक दल अपने भीतर लोकतंत्र को कायम नहीं रख सकता वह समाज में कैसा लोकतंत्र ले आएगा, इसका अनुमान किया जा सकता है। बसपा के लिए आंबेडकर का वही अर्थ और महत्त्व है जो कांग्रेस के लिए गाँधी का।''[17] अंततः सरोज ने नारा लगाया– ''पार्टी–सुप्रीमों जिंदाबाद, बहिनजी जिंदाबाद, बाबा साहब अमर रहें, अमर रहें।''[18] इस कहानी से संकेत मिलता है कि बसपा को दलित जीवन की जमीनी सच्चाईयों और समस्याओं की जितनी कम समझ है उतनी ही कम चिंता भी है। इसलिए बसपा की राजनीति के विरूद्ध दलितों में असंतोष का भाव भी पैदा होता दिखाई देता है।''[19] बसपा सुप्रीमों को आज सचमुच दलितों के हितों की उतनी चिंता नहीं जितनी कि खुद को स्थापित करने की। उत्तर प्रदेश में बसपा सुप्रीमों ने जगह–जगह पर अपनी मूर्त्तियाँ लगवायी है, साथ ही पार्टी के चिह्न हाथी की भी बड़ी–बड़ी मूर्त्तियां स्थापित की गई हैं। इसके लिए गरीब जनता के करोड़ो रूपये खर्च हुए हैं, जबकि उत्तर प्रदेश के गाँवों में आज भी दलितों की स्थिति बदतर है। कई जगहों पर उनकी हत्याएं हुई हैं, उन्हें जलाया गया है। इस कहानी में बसपा कार्यकर्ता सरोज चुनाव से पहले गाँव वालों को तरह–तरह के लुभावने सपने दिखाता है, ''बहन जी के राज में हम यहाँ सार्वजनिक शौचालय बनवा देंगे और हर शौचालय में पानी का कनेक्शन होगा।''[20] चुनाव जीतने के बाद सरोज फिर कभी गाँव लौटकर नहीं आता। वह पार्टी हाईकमान के कार्यालय में काम देखने के लिए दिल्ली बुला लिया जाता है। गाँव की खबर लेने वाला अब कोई नहीं होता। आज गाँवों में दलित राजनीति की यही सच्चाई है।

आजादी के बाद पचास वर्षों की राजनीति ने गाँव की जिंदगी से जाति के प्रभाव को मिटान के बदले उसे बढ़ाया ही है। बिहार और उत्तरप्रदेश में कहीं–कहीं जाति–भेद जाति युद्ध का रूप ले रहा है। जयनंदन की कहानी 'विषबेल' की शुरूआत इन पंक्तियों से होती है, जिसमें एक मां अपने पत्र को पत्र लिखकर गाँव की मौजूदा स्थिति से कुछ इस प्रकार अवगत कराती है, ''अभी–भी स्थिति वैसी ही है, तुम्हारा यहाँ आना ठीक नहीं..... ''तुम्हें बहुत देखने का मन करता है। ज्यादा फुरसत न हो तो तीन–चार घंटे के लिए भी आ जाओ।''[21] गाँव के जीवन में व्याप्त बर्बरता को ही कहानी में चित्रित किया गया है। इससे ''किस्सों–कहानियों में आने वाला भोला, सरल, शरीफ और उदार गाँव शातिर और बर्बर हो गया है।''[22] बिहार के गाँवों में जनसंहार बराबर होते रहे हैं। उन जनसंहारों का एक कारण जाति–संघर्ष भी है। यह कहानी इस बात की ओर भी इशारा करती है कि ऐसे संहारों और संघर्षों का सबसे अधिक शिकार होती है स्त्री, वह चाहे जिस जाति की हो, ''खेतों– खलिहानों और गली–कूची में नान्ह लड़कियों व औरतों के साथ बदसलूकी, छेड़छाड़ और अभद्रता करने की घटनाओं में तेज़ी आ गई। रात में उठा ले जाने की वारदात को एक बार फिर क्रूरता से अंजाम दिया गया। दो बार की सामूहिक लुटी–पिटी फूलमती तीसरी बार भी सलीब पर लटकाई गई। अगले दिन जब वह वापस आई तो उसने तय कर लिया कि इस बार–बार की पाशविक यंत्रणा झेलने से बेहतर है मौत को गले लगा लेना.... और उसने जाकर कुंए में छलांग लगा दी। लोगों ने देख लिया था सो उसे मरने से बचा लिया लेकिन अब वे एक ऐसे निर्णायक मोड़ पर आ गए थे जहाँ से सिर्फ एक ही रास्ता 'करो या मरो' निकलता था।''[23] जयनंदन ने विभिन्न संघर्षशील जातियों की मानसिकता और गतिविधियों के साथ–साथ सामाजिक ह्रास पर उसके पड़ने वाले प्रभावों पर भी ध्यान दिया है। उन्होंने ठीक ही लिखा है कि ''जहाँ सत्ता और पद का आधार काम नहीं जाति बन गया हो वहाँ विकास की चिंता कौन करेगा? ''जातिगत विद्वेष को ही कहानीकार 'विषबेल' कहता है और उसके अंत को मुनष्यता के आरंभ के लिए जरूरी मानता है।''[24]

बाबरी मस्जिद बनाम राम–जन्मभूमि संबंधी विवाद और 1992 में बाबरी मस्जिद के विध्वंस के साथ साम्प्रदायिकता की जो आंधी चली उससे देश के शहर ही नहीं गाँव भी प्रभावित हुए। देश की राजनीति ही नहीं सामाजिक संवेदनशीलता पर भी उसका असर पड़ा, सामाजिक संबंध के साथ–साथ सांस्कृतिक समझ में भी तरह–तरह के बदलाव आए और धार्मिक चेतना ही नहीं इंसानी रिश्ते भी शंका तथा संदेह के शिकार हुए। इसी स्थिति को ध्यान में रखकर मोहम्मद आरिफ ने 'मियां' नामक कहानी लिखी, ''मियाँ एक ट्रक भरकर..... कुछ करिए मियाँ..... बाज़ार वाली मस्जिद के पास कारसेवकों की भीड़ ..... कुछ भी हो सकता है ..... पूरा गाँव जला देंगे ..... मस्जिद पर हमला होने वाला है .... कुछ करिए मियाँ ..... मियाँ..... कुछ''[25] बाबरी मस्जिद के विध्वंस के बाद हिंदुत्ववादियों ने देश के अन्य मस्जिदों को निशाना बनाया था। पर ऐसा न था कि यह एकतरफा हुआ, जहाँ मौका मिला मुसलमानों ने भी मंदिरों को तोड़ा। इसकी अनुगूंज विश्व के कई देशों में सुनाई पड़ी। बांग्लादेश और पाकिस्तान में बदले की कार्यवाही में कई मंदिर तोड़ डाले गए एवं हिन्दुओं पर आक्रमण हुए। साम्प्रदायिकता की निंदा हर स्थिति में करनी चाहिए न कि एक दूसरे के ऊपर दोषारोपण करके इसे सही साबित किया जाए। गाँव में साम्प्रदायिकता की दशा को मियाँ कहानी के एक ओर अंश को देखकर समझा जा सकता है– ''पंडिताने जाने के लिए बाजार वाला रास्ता आज ठीक नहीं था। रह–रहकर गगनभेदी नारों से आसमान कांप रहा था। जैसे ही अयोध्या से लौट रहे कारसेवकों का कोई जत्था सड़क से गुजरता, पूरा वातावरण गूंज उठता, अयोध्या और बाबरी मस्जिद से अधिक काशी और मथुरा का नाम सुनाई पड़ता था।''[26] इस कहानी में यह दिखाया गया है कि गाँव में हिन्दू–मुस्लिम सभी एक साथ मिलकर रहते थे। कहानी के एक अन्य पात्र हुसैन अली हिंदावल एक नेक इंसान थे उनकी हिन्दू–मुस्लिम सबसे दोस्ती थी। वे रूढ़िवादी या साम्प्रदायिक बिल्कुल न थे। आडवाणी जी की रथयात्रा के समय उनके स्वागत में वे खुद भी शामिल थे। जब अपने सम्प्रदाय के लोगों ने उन्हें टोका तो वे बोले–बाबरी मस्जिद तो हम पहले नहीं सुने थे। हम तो अपनी बाजार वाली मस्जिद को जानते हैं जिसमें नमाज पढ़ते हैं.... भईया यह हवा है, गुजर जाने दीजिये। बाबरी मस्जिद का बाल भी बांका न होगा। पर देश का दुर्भाग्य था कि यह अनहोनी हो गई और सारे लोग मूक–दर्शक

बने रहे। संकट के इस स्थिति में जब गाँव पर हमला होने वाला था, मियाँ हिंदावल को कुछ सूझ नहीं रहा था तब उनकी पत्नी कहती है, ''पंडिताने जाइए। महाराज से कहिएगा मियाँइन ने भेजा है। भाभी कहता है न .... कहिए देवर को याद किया है, मदद मांगी है। कहिए कि गाँव की मस्जिद महराज के हाथ है कि पूरा गाँव महराज के हाथ है।''[27] इस पंक्ति से स्पष्ट होता है कि गाँव में पहले आपसी रिश्तें काफी मजबूत थे तभी तो मियाँइन महाराज से अधिकार के साथ कुछ मांगती है, गाँव की रक्षा की बात कहती है। गाँव का महाराज भी मियाँइन को भाभी कहता है। मियाँ एवं महाराज में अच्छी दोस्ती थी दोनों साथ ही खेला करते थे। किन्तु देश में फैले साम्प्रदायिकता की आग ने सब कुछ बदल दिया था। इस गाँव मे सुबह से ही विजय यात्रा की तैयारी जोरों से चल रही थी, वह भी उस मैदान में जो मस्जिद के पास था। उस दिन में जुमे की नमाज भी पढ़नी थी इस स्थिति में कुछ भी हो सकता था इसी कारण मियाँ महाराज के पास गए थे कि ये सब कुछ टाल दें, नमाज हो जाने दे फिर कुछ करें, महाराज से उन्हें सुरक्षा का आश्वासन भी मिला, ''जाओं कल हम रहेंगे। जुलूस नहीं निकलेगा। तिरपाठी दारोगा को भी सहज देंगे, किसी को भी गाँव से भागने की जरूरत नहीं।''[28] दूसरे दिन नमाज का वक्त हुआ तो महाराज ने जुलूस को रोकने की कोशिश की। एक तरफ नमाजी मस्जिद में नमाज पढ़ रहे थे दूसरी तरफ रामभक्त नारे लगा रहे थे, ''हिंदू को हिंदू बनाने वाले नारे मुसलमान को मुसलमान बनाने वाले नारे।''[29] किसी तरह हिंसा तो टल गया किन्तु ''साम्प्रदायिकता और मंदिर–मस्जिद की जो विषाक्त हवा देश में बही, उसने मियाँ के गाँव हुसैनफरा को भी छुआ। पर सबसे ज्यादा असर मियाँ पर पड़ा।''[30] इस कहानी में साम्प्रदायिकता की राजनीति का गाँव पर पड़ने वाले असर को स्पष्ट रूप में देखा जा सकता हैं इस कहानी में इंसान और इंसानियत को तोड़ने वाली साम्प्रदायिक स्थितियों का प्रभावशाली चित्रण है और मानसिक उथल–फथल का बारीक ब्यौरा भी प्रस्तुत किया गया है। हाल के वर्षों में साम्प्रदायिकता को प्रसार के साथ हिन्दुओं और मुसलमानों में धार्मिक आवेग, दकियानूसीपन और असहनशीलता की जो वृद्धि हुई है वह भी इस कहानी में है। साथ ही साम्प्रदायिकता की आंधी में भी मनुष्यता की रक्षा करने वाले जहाँ–तहां जो व्यक्ति विशाल वृक्ष की भांति अडिग

खड़े रहे हैं उनके भी चित्र इस कहानी में मिलते हैं। हुसैन अली हिंदावल की मौत इंसानियत, भाई–चारा और दोस्ती की मौत है, साम्प्रदायकिता के जहर से।'[31]

2.2. गाँव की सामाजिक जिंदगी

मनुष्य जिस भी समाज का सदस्य हो उसके परिवेश की प्रभाव–व्यप्ति से वह मुक्त नहीं रह सकता। परिवेश ही उसकी सामाजिक रीति–नीतियों का विभिन्न क्रिया–व्यापारों का नियन्ता होता है। कहानीकार समाज के इसी परिवेश के समस्त संगतियों और विसंगतियों का कहानियों के माध्यम से अभिव्यक्त करता है। समकालीन कहानीकार अपने परिवेश के प्रति अत्यंत जागरूक रहे हैं, यही कारण है कि देश का कोई कोना इनसे छूटने न पाया है। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि ग्रामीण जीवन की पृष्ठभूमि वाली कहानियाँ उत्कृष्ट नहीं है या दोयम दर्जे की है। ग्रामीण जीवन को केन्द्र बनाकर प्रेमचंद और रेणु ने जो शुरूआत की थी वह कहानी उत्तरोत्तर विकास ही करती गई है। आज के संक्रमणकालीन गाँव में सामाजिक, आर्थिक, एवं राजनीतिक परिवर्तन हुए है, जिनके कारण आज की कहानी का कथ्य और शिल्प बदला है। एक ओर जहाँ गाँवों में परिवर्तन का बयार कई चीजों से बदल चुका है वहीं गाँव में अभी भी कुछ चीजें परम्परागत रूढ़ियों से मुक्त नहीं हो पायी है।

ग्रामीण समाज की परिस्थितियों को शिवप्रसाद सिंह, कमलेश्वर, भीमसेन त्यागी, मार्कण्डेय, विवेकी राय, असगह वजाहत, बलराम, काशीनाथ सिंह, गोविंद मिश्र, मनीष राय, हरि भटनागर, ह्रदेयश, भैरव प्रसाद गुप्त, मिथिलेश्वर, रामदरश मिश्र, कमलकांत त्रिपाठी, विनोद मिश्र, सुभाषचंद्र कुशवाहा, विजयकांत, विजयेन्द्र अनिल, प्रभु जोशी, सुरेश कांटक,सृंजय, रामस्वरूप अणखी, राकेश कुमार सिंह, विद्यासागर नौटियाल, विजय पंडित, जयनंदन, चित्रा मुद्गल, मधुकर सिंह, शिवमूर्त्ति, मैत्रेयी पुष्पा, ओमप्रकाश वाल्मीकि आदि ने अपनी रचनाओं में भली–भांति परखने की कोशिश की है। काशीनाथ सिंह की कहानी 'सराय मोहन की' (1986) ग्रामीण जीवन परिवेश के संक्रमणकालीन समाज और उसके चरित्र की एक बहुत सशक्त और संश्लिष्ट कहानी है। इस कहानी में एक पात्र के अतीत के वैभव और उसके मोह

की पीड़ादायक स्मृतियाँ दिखाई गई हैं। बाबू साहब गाँव आकर देखते हैं कि यहाँ नए बने रईसों का एक ऐसा वर्ग है जो अपनी मेहनत–मजदूरी के बल पर ऊँचा उठा है। इसने झूठी प्रतिष्ठा के बोझ को कभी नहीं ढोया और आज फराने वक्त के रईसों को अपने सामने हाथ फैलाता देखकर एक तुष्टि के भाव से भर जाता है। हुकुम चलाने वाले वर्ग की दिक्कतें इतनी बढ़ गई कि उन्हें हाथ से काम करने, खेत में कुदाल चलाने पर विवश होना पड़ा। पर क्या यह सच है कि ग्रामीण समाज वर्णाश्रम व्यवस्था की रूढ़ियों से मुक्त हो गया? क्या इतना विकास कर पाया है हमारा ग्रामीण समाज, तकनीकी क्रांति के बाद भी? ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम' को इसके बरक्स रखा जा सकता है। 'सलाम' कहानी में जाति प्रथा के पारम्परिक रूप को चित्रित किया गया है। यहाँ दोनों रचनाकारों की वैश्विक दृष्टि के अनुरूप ही कथ्य की भिन्नता है।

आधुनिकता के संक्रमण से ग्रामीण परिवेश के विभिन्न वर्गों की सामाजिक पद्धतियों एवं मूल्यों में परिवर्तन हो रहे हैं। सम्पूर्ण ग्रामीण–समाज इस मूल्य–संक्रमण से सम्बन्ध है। ग्राम–जीवन की सामाजिक संगतियों–विंसगतियों, जीवनगत अभावों, जड़ताओं, जीवन–मूल्यों एवं विश्वासों और उनके खंडित–विखंडित स्वरों से उद्‌भूत क्रियाशील मानसिकता सामाजिक ग्राम–चेतना है। आज का ग्रामीण समाज परिवर्तित एवं अपरिवर्तित आधुनिक और परम्परागत बोध से ग्रस्त संक्रमण की स्थिति में है। भौतिकता के स्वर वहाँ के जीवन मानों में, पारस्परिक सम्बन्धों में घुसपैठ कर रहे हैं और गाँव का समाज और उसका व्यक्ति आदर्श और यथार्थ के द्वन्द्व का दर्द अनुभव कर रहा है। गाँवों की सामूहिकता और सहजता विखंडन और कृत्रिमता में परिवतर्तित हो रही है। यह सच है कि गाँव पहले की अपेक्षा आर्थिक दृष्टि से कुछ समृद्ध हुए हैं, किन्तु सामाजिक स्तर पर पर्याप्त श्री– हीन और विघटित हुए हैं। सामाजिक स्तर पर गाँवों में जहाँ एक ओर नयी बौद्धिक चेतना आयी है, वहाँ अंधविश्वास और रूढ़ियाँ भी तरह–तरह से अपना पैर जमाए बैठी हुई है। संयुक्त परिवार टूट रहे हैं और गाँव के व्यक्ति शहरों की ओर संक्रमण कर रहे हैं। शहरी मूल्य गाँवों की ओर दौड़ रहे हैं। दया, ममता, ईमानदारी, गाँव के किसी कोने में शेष नहीं है। गाँव का सामाजिक जीवन अपनी आन्तरिकता में टूट रहा है

और उसी टूटन को समकालीन कहानीकारों ने अपनी कहानियों में प्रस्तुत किया है। प्रत्येक व्यवस्था समय की गतिविधि के अनुसार समन्वित एवं समायोजित होती रहती है। पुरानी व्यवस्था परिवर्तित होकर नये रूप में सम्मुख आती है। यही स्थिति ग्रामीण परिवारों की भी है। अतः अपनी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुरूप परिवार समायेाजित हो रहे हैं। संयुक्त–परिवारों की इस समायोजन प्रक्रिया को परिवार के विघटन के अर्थ में लिया जाता है, क्योंकि परिवार अपनी सारी सामाजिक शक्तियों के साथ संक्रमणशील स्थितियों के बीच से गुजर, टूट–टूटकर, छोटी–छोटी इकाईयों में विभाजित हो रहे हैं। आदर्शों, मूल्यों एवं परम्पराओं के स्खलन से संयुक्त परिवार की व्यवस्था एवं संगठन टूट रहा है। सम्बन्धों के बदलाव से पारिवारिक जीवन अशांत एवं कलहपूर्ण हो गया है। उसकी सामूहिकता नष्टप्रायः हो रही है।'[32] बलराम की कहानी 'कलम हुए हाथ' में ग्रामीण संयुक्त परिवार टूटते दृष्टिगत होते हैं। पिता और पुत्रों में कतई नहीं बनती है। पारिवारिक खर्च बढ़ने से पिता और पुत्रों के मध्य अक्सर झगड़ा होता रहता है। इसीलिए माधो ने घर और जमीनों को तीन पुत्रों के बीच में बांट देता है। ऐसा करने पर माधों की घर की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं रहती है। घर के साथ–साथ खेतों को भी नुकसान पहुंचता है। बंटवारे से पहले जो स्थिति थी वह अब बंटवारे के बाद नहीं रह जाती है, ''शंकर के हिस्से के खेत तो खैर जुत–बो गये हैं, पर बड़के और मंझले अभी तक हाथ–पांव मार रहें हैं। यह पहला मौका है, जब दीवाली आ जाने पर भी खेत बिना जोते–बोए पड़े हैं, नहीं तो जब तक बंटवारा नहीं हुआ था, सारे के सारे खेत दीवाली तक जुत और बो जाते थे।''[33] संयुक्त परिवार इस प्रकार कहीं आर्थिक आवर्तों, कहीं आधुनिकता–प्रधान नई दृष्टि एवं कहीं अन्य सामाजिक विसंगतियों के कारण बुरी प्रकार टूट रहे हैं।

भैरव प्रसाद गुप्त की कहानी 'कुंठी' (1985) गाँव के बदलते हुए सामाजिक परिवेश पर ही लिखी गयी है। यहाँ कहानीकार उन कारणों को तलाश करने की कोशिश करता है जिसके कारण भगत कम्युनिस्टों की सूची में शामिल हो जाते हैं। मार्कण्डेय की कहानी 'खूंटी पर टंगी जिंदगी' (1984) में यह दिखाने की कोशिश की गई है कि गाँव से शहर आया व्यक्ति किस तरह से अपनी जिंदगी को तबाह

पाता है। कहानी का पात्र गाँव भी नहीं लौट सकता क्योंकि उसने जो सपने देखे हैं उस सपने का क्या होगा? इसी तरह गाँव के परिवर्तन को संजीव की कहानी 'पिशाच' में देखा जा सकता है, जिससे रचनाकार ने यह चित्रित किया है कि ''गाँव के ब्राह्मणों और ठाकुरों की हवेलियाँ ही पुरानी पड़कर नहीं ढह रही है, वह सारी व्यवस्था जो युगों–युगों से शोषितों, दलितों को हीनतर बनाती चली जा रही थी। अब शोषण की बारी दूसरों की थी।''[34]

भारतीय ग्रामीण समाज का आधार वर्ण और जाति व्यवस्था है। भारतीय ग्रामीण समाज में जाति, व्यक्ति के कार्य, जीवन–स्तर एवं उसे सुलभ अवसरों को सुनिश्चित करती है। जातिगत वैभिन्य पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन की पद्धतियों, सांस्कृतिक स्वरूपों एवं गृहों की बनावट तक को निर्धारित करता है। भूमि का स्वामित्व भी प्रायः जाति प्रथा के आधार पर ही प्रतीत होता है। इसने ग्रामीण जगत के अनेकों सामाजिक समूहों की मनः स्थितियों को निर्धारित कर दिया है और सामाजिक सम्बन्धों की ऊंचाई–नीचाई, सामिप्य अथवा दूसरी के क्रमानुसार स्तर निर्धारित कर दिए हैं। जाति–व्यवस्था भारतीय समाज की ऐसी सर्वव्यापी और सर्वग्रासी प्रवृत्ति है, जिससे भारतीय जन–जीवन का प्रत्येक पक्ष प्रभावित होता है। श्रीधरम की कहानी 'नवजात (क) कथा' में गाँव में जाति–व्यवस्था के आतंक और उत्पीड़न को यहाँ प्रस्तुत करते हैं। कहानी का एक पात्र गणेश झा ब्राह्मण जाति का है। उसकी पुत्री गाँव के चमारटोली के एक युवक से प्यार करती है और भागकर शादी कर लेती हैं। इस अंर्तजातीय विवाह से गाँव में हड़कंप मच गया है। गाँव दो दलों में बंट गया है– ब्राह्मण जाति (उच्च जाति) और निम्न जातियों में। ब्राह्मण टोले के श्रीमुखों ने गणेश झा को जाति से बाहर करने का फैसला किया है, परन्तु वे यह भी चाहते हैं कि गणेश झा की जीत हो सके ताकि चमारों का मनोबल बढ़ ना जाए। वे चाहते हैं कि पुलिस के सामने लड़की के अपहरण का केस दर्ज हो जाए। ब्राह्मण जाति इस बात से चिंतित है कि कहीं समाज में उनका मान–सम्मान और प्रतिष्ठा को नुकसान न हो, ''नाक तो पहले ही कट गई है, कम से कम सर कटने से तो बच जाय' ..... ''चाहे खेत ही क्यों न बेचना पड़े पर गणेश झा लड़े... ''ऐसी बेटी ही क्यों पैदा की जो सारे ब्राह्मण समाज के मुँह पर कालिख

पोत गई?''[35] पुलिस प्रशासन भी इन उच्च जाति के लोगों के साथ मिल जाती है। थाने का दारोगा भी ब्राह्मणों के साथ मिलकर चमारटोली के लोगों को परेशान करता है। परन्तु उन्हें डर इस बात का है कि डीएसपी निम्न जाति का है। कहीं वह चमारों के बहकावे में न आ जाए, ''सो तो दारोगा जी ने कहा कि हम पाताल से भी ढूंढकर लड़की को निकाल लेंगे और उस चमरबे को इतनी मार मारेंगे कि हगना–मूतना भी भूल जाएगा। पर डर सिर्फ एक बात की है..... ''सुनते हैं डीएसपी किसी छोटी जाति का है। इस छोटका राज में एक्को ठो ब्राह्मण अधिकारी थोड़े ही बचा है?''..... आप लोग चिंता क्यों करते हैं? अरे, 'गोला' कितना भी बड़ा हो जाए फिर भी 'डंडा' के नीचे ही रहेगा। दो अक्षर पढ़ लेने से ही कोई शूद्र थोड़े ब्राह्मण हो जाएगा।''[36] दूसरी तरफ गाँव के चमारटोली में इस बात से प्रसन्न है कि उच्च जाति की लड़की ने निम्न जाति के लड़के से शादी कर ली है, ''रात के आठ बजते–बजते ही पूरा गाँव निःशब्द हो गया था। सिर्फ चमार टोली से कुछ लड़कों के गाने की आवाज आ रही थी–

''ले जाएंगे, ले जाएंगे,

चमारटोली वाले दुलहिनयां ले जांएगे।

रह जाएंगे, रह जाएंगे,

बभन टोली वाले ताकते रह जाएंगे!''[37]

पूरी कहानी में गाँव के जीवन मे जाति–व्यवस्था की उपस्थिति अति गहराई तक है। कभी न खत्म होने वाला वैमनस्य का भाव गाँव के लोगों में दिखाई देता है। साथ ही मैथिल ब्राह्मणों की मानसिकता के अनेक रूपों और पक्षों को भी उजागर करता है। सवर्ण मानसिकता की जड़ता और जटिलता की पोल खोलने वाली यह कहानी आज के गाँवों में विकसित होने वाले जातिगत संघर्षों के अनेक पक्षों का उद्‌घाटन करती है। इस कहानी से यह भी स्पष्ट होता है कि सवर्ण शालीनता की चादर से ढंकी अश्लीलता और स्वार्थपरता के दिन अब समाप्त होने वाले हैं।

जगवीर सिंह वर्मा की कहानी 'ब्यूह' भी गाँव की जाति–व्यवस्था का एक अलग चित्र हमारे सामने रखती है। गाँव के सभ्य लोग, ढेकेदार, महाजनों ने जाटवों को अपने खेत–मेढ़ पर जाने से रोक दिया है। उन्हें काम मिलना बंद हो गया है। मजदूरों का पलायन गाँव से शहरों की ओर होने लगा है। कहानी का पात्र ध्यानवीर जाटवों की समस्या को पंचायत के सामने भी रखता है लेकिन उसका कोई फायदा नहीं मिलता है। पुलिस प्रशासन, न्यायधिकारी सभी उच्च जाति के लोगों से मिले हैं। जाटवों की स्थिति गाँव में दयनीय होती जा रही है। ध्यानवीर जो जाटवों के अधिकारों को लेकर चिंतित दिखाई देता हैं। वह चाहता है कि सरकार भी उनके साथ न्याय करें, ''आदमी को दूसरे आदमी पर मालकियत रखने का कोई हक नहीं होना चाहिए! और फिर जब सरकार ने मरे ढोरों को उठाने के लिए ठेके का इन्तजाम कर दिया है तो खामख्वाह जाटवों से क्यों जबरन की जा रही है? और फिर इस तरह यह सब मजदूर गाँव छोड़कर भाग जाएंगे? तो मजदूर कहां से आएंगे? इस तरह मजदूरी भी बढ़ जायगी? मगर गाँववाले यह सब नही सोचते और ध्यानवीर सोचता है तो पगला गया है और गाँववालों के लिए अछूत हो गया है।...''[38] दरअसल जाटवों के बड़े–बड़े तो काम करने के लिए तैयार भी थे कि ढेका खत्म हो गया है और सरकार जब तक नया ठेका नहीं उठाती, वह लोग ही काम करते रहें तो क्या हरज? चमड़े की मांग बढ़ी है, कीमत भी बढ़ी है। मगर युवावर्ग छूट गये काम को फिर से संभालने के पक्ष में नहीं था। उनका कहना था कि गाँववालों को उनसे ही मरे ढोरों को उठाने और उनकी खाल निकालने का काम करने की जिद न करके नये ठेके के लिए सरकार से ही कोशिश करनी चाहिए।[39] ध्यानवीर गाँव की सभी लोगों को खूब समझाता है लेकिन कोई भी उसकी बातों को समझने के लिए तैयार नहीं होता है। यह समस्या बढ़ते–बढ़ते विकराल रूप ले लेती है। गाँव के सभी लोग ध्यानवीर के विरूद्ध होने लगते हैं। कहानीकार वे इस कहानी के माध्यम से गाँव में जाति–व्यवस्था के आंतक और उत्पीड़न को यहाँ, प्रस्तुत करते हैं, जहाँ गाँव के लोगों की उपेक्षा और अपमान होता है, उन्हें प्रभुवर्गों द्वारा शोषित और उत्पीड़ित किया जाता है। दलित जातियाँ अपने स्वाभिमान के लिए सवर्णों से टकरा रही हैं। सवर्णों को यह स्वीकार नहीं कि उनकी बेटी किसी दलित लड़के से प्रेम करे, उससे ब्याह रचाए। जातीय अहंकार

की रक्षा के लिए वे हर कोशिश में लगे हुए है। थाना–पुलिस, कोर्ट– कचहरी, सब कुछ धन, बल, जाति की कीमत पर खरीदे जा रहे हैं। इधर दलित जातियों में जो जागृति आई है, उसके चलते वे सहज समर्पण को तैयार नहीं हैं। इन्हीं जातीय संघर्षों के बीच टूटते ग्रामीण समाज की एक मुकम्मल तस्वीर इस कहानी में देखा जा सकता है।[40]

ओमप्रकाश वाल्मीकि की 'शवयात्रा' दलित चेतना की अत्यंत महत्वपूर्ण कहानी है, जिसमें दलित समुदाय के भीतर मौजूद, भेद–भाव के कटु अनुभव की प्रभावशाली अभिव्यक्ति है। 'शवयात्रा' में चमारों के गाँवों ने एक बलहार परिवार की उपेक्षा और यातना का चित्रण है। कहानी का नायक कहता है, ''यहाँ न तो इज्ज़त है, न रोटी, चमारों की नज़र में भी हम सिर्फ बलहार हैं,''[41] अर्थात् अछूतों में भी अछूत। कल्लन महसूस करता है कि इंसान की जाति ही सब कुछ है। उसकी विद्या और बुद्धि से भी ऊपर। जाति–व्यवस्था का भेदभाव सभी इंसानी रिश्तों को अस्वीकार करता है। इसीलिए कल्लन की बेटी की चिकित्सा करने से डॉक्टर इंकार कर देता और उसकी मौत के बाद चमारों के शमशान में उसके मुर्दे को फूंकने की इज़ाजत चमार भी नहीं देते। यही नहीं ''बलहारों के मुर्दे को हाथ लगाने या शवयात्रा में शामिल होने गाँव का कोई भी व्यक्ति नहीं आया। जाति उसका रास्ता रोक रही थी..... इस शवयात्रा को देखने के लिए चमारिनें अपनी छतों पर चढ़ गई थीं। उनकी आंखों के कोर भीगे हुए थे। लेकिन बेबस थीं, अपने–अपने दायरे में कैद। बल्हार तो आखिर बल्हार ही थी। अपने ही नहीं, उन्हें तो दूसरों के मुर्दे भी देने की आदत थी...''[42] दलित चेतना की इस कहानी में आत्मालोचन का स्वर अत्यंत प्रखर रूप में व्यक्त हुआ है। यह एक प्रकार से निर्भर और निर्मम यथार्थवाद की कहानी है जो प्रसिद्ध चीनी लेखक लुशून की कहानियों की याद दिलाती है।

तमाम सामाजिक बदलावों के बावजूद आज भी सामंतवादी ग्रामीण समाज का चरित्र रूढ़िग्रस्त, दकियानूसी विचारों से लैस और ऊंच–नीच की धुरी के ईद–गिर्द घूम रहा है। हरनोट की 'मुट्ठी में गाँव' कहानी में पहाड़ी गाँव की धड़कने और सासें हैं, महक और बदबू है। ऊंची–नीची खूबसूरत चोटियों और घाटियों के अलावा बहुत कुछ बदसूरत भी है। इस कहानी में पहाड़ी स्त्री की भूख,

गरीबी हक़–हकूक से संघर्ष, पुरूषसमाज के समर्पण और दब्बूपन की प्रवृत्ति पर भारी पड़ता है।'[43] यह कहानी इस सच्चाई की ओर संकेत करती है कि गाँव में अब भी सामंती व्यवस्था शोषण और आतंक के रूप में मौजूद है, ''मंगली को परधान फूटी आँख भी नहीं सुहाता। हालांकि कर्ज़ देकर पहले बेटियां ब्याही और फिर दूसरी ज़रूरते हैं, परधान ये मेहरबानी मुफ़्त तो नहीं कर रहा है। सारी ज़मीन अपने नाम लिखवा ली है। जानता है, मोती कभी इतने नहीं कमा सकेगा कि रेहन छुड़ा ले।''[44] यह कहानी एक ऐसे गाँव की कहानी है जिसमें केवल एक परिवार हरिजन का है और बाकी सब राजपूत तथा ब्राह्मण है। हरिजन परिवार का शोषण और दमन सवर्ण समुदाय करता है, जो एक अमीर है और दूसरी ओर राजसत्ता से उसके अनेक प्रकार के संबंध भी है। गाँव में लूट के कई रूप दिखाई देते हैं। सरकार द्वारा निम्न वर्ग के लोगों के लिए सरकारी अनुदान दिया जा रहा है मोती उन्हीं पैसों से एक जर्सी गाय खरीदता है। वहीं प्रधान उसे अन्य खर्च बताकर उसे जर्सी गाय वापस ले लेता है। मोती खाली हाथ ही वापस लौटता है,'' देख मोती! तैंने मेरा पहले ही काफ़ी पैसा देना है। फिर तेरी ढलती उम्र है। तेरे पास जगह–ज़मीन भी रेहन के लिए नहीं है वरना परनोट बनाकर उसे लिखवाए लेता। ऐसा कर इस गाय को यहीं रख जा। इस बार का ख़र्चा भी पूरा हो जाएगा और इस साल का ब्याज भी। अगली बार तुझे एक गाय और दिलवा दूंगा।''[45] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि प्रायः सरकारी अनुदानों को सवर्ण और सम्पन्न लोग हड़प लेते हैं। पंचायत नाम की संस्था भी शोषण की इस प्रक्रिया में सवर्णों और अमीरों के हाथों को खिलौना बन जाती है। मोती गोदान के होरी की तरह दब्बू और कमजोर है। लेकिन उसकी पत्नी मंगली धनिया का नया अवतार है जो अपना हक़ पहचानती है और उसे छीनकर ले लेना भी जानती है, ''जानती हूं परधान! ये कर्ज़ा भी जानबूझकर कर तुमने थमाया है कि हम लोग बराबर तुम्हारे दरवाज़े के फकीर बने रहें। मैं तो पहले से ही जानती हूँ रे पाजी तुझे, क्या चीज़ है। हमारा मांस खा–खाकर तेरा घर–बार फल–फूल रहा है। आज एक गाय पर हमारी उम्मीदें बंधी थी उसे भी लील गया।''[46] इस कहानी से यह भी जाहिर होता है कि गाँव में रहने वाले दलित अब सजग और सचेत हो रहे हैं। इसलिए उन्हें बहुत दिनों तक जाति–व्यवस्था की गुलामी के अंतर्गत दबाए रखना संभव नहीं होगा।

'माघ की रात' वासुदेव की ऐसी कहानी है जो गाँव की संस्कृति और जिन्दगी की असली सच्चाइयों की मार्मिक अभिव्यक्ति करती है। गाँवों में सामाजिकता का निर्माण करने वाली अलाव की संस्कृति भी अब समाप्त हो रही है। कहानीकार यह जानता है कि ''बुझावन और रामस्वरूप के अलाव में अंतर है। बुझावन का अलाव पेट भर खा लेने के बाद घड़ी–दो–घड़ी तक हाथ–पांव सेंकने के लिए है। हां शाम के वक़्त गाँव के कुछ नेता टाइप लोग गप्पें मारने ज़रूर आ जाते हैं। यदि गाँव–जवार की ताज़ा ख़बरें मालूम करनी हो तो आप बुझावन के अलाव के पास घड़ी भर के लिए चले जाइए, सब मालूम हो जांएगी।''[47] इससे अलग है रामस्वरूप का अलाव, ''वहाँ वैसे लोग आते ही नहीं, क्योंकि इस तरह की बातों में उनकी कोई रूचि नहीं होती। उसका अलाव तो उसके हाथ–पांव और शरीर को ही गर्म नहीं रखता अपितु पेट को भी गर्म रखता है।''[48] बुझावन और रामस्वरूप के अलावों की संस्कृति में भी वही अंतर है जो भरे पेट और खाली पेट वालों की संस्कृतियों में होता है। इस कहानी से यह भी जाहिर होता है कि गरीबी, जाति और धर्म के फर्क तथा भेदभाव को मिटाती है। इसीलिए रामस्वरूप और हबीब मियां के बीच गहरी दोस्ती है। गरीब लोग केवल सत्ता के आतंक के ही शिकार नहीं होते, प्रकृति की मार भी सबसे अधिक उन्हीं पर पड़ती है। ठंड और गर्मी से गाँवों और शहरों में सबसे अधिक गरीब ही मरते है। हबीब मियां ठीक ही कहते हैं– ठंड से कौन मरता है, जिसका पेट खाली रहता है और शरीर उघार। वे सब हमारे ही जैसे लोग होते हैं।''[49] सरकार द्वारा दी मदद भी इन तक सही तरीके से नहीं पहुंच पाती है। सभ्य समाज के लोग गरीबों के हक को मार जाते हैं, ''वहीं नेतवा है। रात में तो वह रोज़ ही पीकर आता है... क्या आपका पेंशन वाला पैसा दिलाया?'' ''कहां दिलाया? तीन महीने हो गए। दस्तख्त करवाकर ले गया था। पर आजतक एक पैसा नहीं दिलाया। रोज़ आज–बिहान करता है.. सब लुटेरे हैं। गरीबों को ही लूटता है और अपना पेट भरता है।''[50] इस कहानी से यह संकेत मिलता है कि इंसानियत गरीबों में अधिक मिलती है और अमीरों में वह प्रायः दुर्लभ होती है। आज के समय में जबकि समाज में इंसानियत के उदाहरण मुश्किल से मिलते हैं, तब गाँव की ज़िंदगी जीती–जागती इंसानियत के प्रमाण को प्रस्तुत करते हैं।

सुभाषचंद्र कुशवाहा की कहानी 'तिलेसरी' गाँव की जिंदगी को समग्रता में व्यक्त करती है। इस कहानी से यह जाहिर होता है कि गाँव में सबकी दुनिया एकदम अलग है। इसीलिए कहानीकार ने लिखा है कि ''आज जहाँ से अट्ठहासें उठती हैं, वहीं तिलेसरी का रूदन जन्म लेता है।''[51] कहने का तात्पर्य यह है कि गाँव में अमीरों की दुनिया में सुख है और खुशी है तो गरीबों की दुनिया में दुःख और निराशा है। भारत के गाँव पर भी भूमंडलीकरण का असर पड़ रहा है, क्योंकि भूमंडलीकरण के कारण कल–कारखाने बंद हो रहे हैं और गाँव वालों के लिए रोजगार के अवसर कम, इसलिए मजदूरों के सामने रोजी–रोटी की समस्या विकराल रूप में खड़ी हो गई है, ''समय से मिलों का आधुनिकीकरण न किए जाने एवं विभिन्न सरकारों द्वारा बाहर से चीनी आयात करने के कारण, धीरे–धीरे मिले घाटे में चली गई। मिल मालिकों और सरकार, किसी की इच्छा बंद हो गई। स्वास्तिक छाप यूरिया की जगह आयातित यूरिया ने ले लिया और बड़ी फैक्ट्रियों की आकर्षक पैकिंग एवं मनमोहक विज्ञापनों के सामने, लघु उद्योगों ने असमय दम तोड़ दिया। देखते ही देखते सैकड़ों मजदूरों के सामने रोज़ी–रोटी की समस्या आ खड़ी हुई।''[52] परिवेश के बदलने के साथ–साथ गाँव के लोगों की ज़िंदगी भी बदल रही है। गरीबों की ग़रीबी बढ़ रही है तो उसके साथ ही उनके जीवन में निराशा भी बढ़ रही है। तिलेसरी का बड़ा लड़का समऊर के बाजार से लौटा है। उसके टोकरे को देखकर तिलसेरी का मन दुखी हो जाता है। मिट्टी के बर्तन बिकने धीरे–धीरे कम होते जा रहे है। घर की आर्थिक हालत खराब हो रही है, जिससे तिलेसरी का मन बेचैन हो उठता है, ''दुइए गो हाड़ी बिकाइल हऽ'' तिलेसरी, बांस के टोकरे में बाज़ार से वापस आई हाड़ियों और पतुकियों को देख कर निराश हो जाती है। दूधनाथ चुप रहता है। उसके चेहरे के भाव बता रहे हैं कि अब मिट्टी के बरतनों का बाज़ार खत्म होने वाला है। चिकनी मिट्टी और आंवा के लिए जलावन की समस्या तो है ही। अब इन बरतनों की उपयोगिता भी खत्म होने लगी है। पहले शादी–ब्याह के मौकों पर कुल्हाड़ों की मांग होती थी। अब कुल्हाड़ों का प्रयोग नहीं होता। बाजार में प्लास्टिक, थर्मोकोल और काग़ज के गिलास, कुल्हड़ों की तुलना में सस्ते दामों पर मिल जा रहे हैं। दुकानदार भी चाय बेचने के लिए कुल्हड़ों को प्रयोग नहीं कर रहे हैं। दीपावली पर मिट्टी के दीयों की मांग कम हो गई है।

बिजली की झालरों एवं मोमबत्तियों से मना ली जाती है दीपावली..।''[53] गाँव में जो कुछ पहले सार्वजनिक था वह सब अब निजी संपत्ति बन गया है। और इस प्रक्रिया में गरीबों का जीवन पहले से अधिक कठिन हो गया है। इस कहानी में पैसे के अभाव में इंजीनियरिंग कॉलेज में प्रवेश न पाने के गम में एक लड़के की आत्महत्या का प्रसंग भी है। मरजादों का लड़का लल्लन पढ़ने में बहुत तेज था। कॉलेज का एकमात्र मेधावी छात्र होने के कारण उसके हेडमास्टर ने इंजीनियरिंग कॉलेज की प्रवेश परीक्षा में बैठने के लिए कहा था। दाख़िला के लिए बीस हजार रूपयों की जरूरत थी। इसीलिए लल्लन का दाख़िला नहीं हो पाया। इस बात का लल्लन पर बहुत गहरा असर पड़ा। वह सबसे कटा–कटा इधर–उधर घूमता रहता है, ''वह कई दिनों से अपने आप से लड़ रहा था।... स्वयं को लाचार पाता। उसे लगता, जिंदगी की जीती हुई बाज़ी हार चुका है या पैसे के अभाव में जीते जी मर चुका है। ..... आखिर कल रात उसने सल्फास की कई गोलियां एक साथ निगल ली और घर से दूर बंसवारी में चारपाई बिछाकर सदा–सदा के लिए सो गया था।''[54] इस आत्महत्या से यह साबित होता है कि हम जैसी समाज व्यवस्था की ओर बढ़ रहे हैं वह एक बीमार समाज–व्यवस्था है जो मनुष्य को हत्या और आत्महत्या की ओर ले जाती है। पूंजीवाद गरीबों को ओर ग़रीब बनाते हुए उन्हें आत्महत्या के लिए मजबूर करता है। इससे यह भी जाहिर होता है कि हम धीरे–धीरे एक बर्बर समाज–व्यवस्था की ओर बढ़ रहे हैं।

'प्रेरणास्रोत' में संजीव ने गाँव के जीवन में मौजूद भौतिक और भावात्मक अंतरों और अंतरालों को व्यक्त करते हुए एक ऐसी स्त्री के संघर्ष की कथा कही है जो बाहर से भोली और निश्चल लगती है लेकिन चेतना के स्तर पर अन्याय का मुखर प्रतिरोध करती है। कहानी में एक और दुविधा में उलझी बौद्धिक सहानुभूति से उपजे अपराध–बोध की गहरी छानबीन है तो दूसरी ओर शोषण और शोषकों के बीच एक स्त्री के संघर्ष का एक ऐसा चित्रण है जो कहानी का सच बन गया है। कहानी की नायिका जंगली बहू का पति, गरीबी के कारण कमाने के लिए पंजाब जाता है, किन्तु उसकी पत्नी और बेटा गाँव में ही है। जंगली बहू दलित जाति की होती है, जिसके कारण उसका शोषण गाँव का पुरूषसमाज करता है। उस पर

छिंटाकाशी, आरोप लगाना कुछ लोगों का रोज का काम था। गाँव के चौराहे पर पुल्ली पांडेय जंगली बहू से कहता है, ''अरे जंगली बहू पंजाब से अपने मंसेधू को बुला ले अब। ..... जंगली बहू उत्तर देती है क्यों उसका खर्चा आप चलाओगे? खेत–खेतार, अगवाड़ा–पिछवाड़ा कब्जिया ही लिए, मजूरी–धतूरी कायदे से करने दोगे नहीं, एक इक्का था, सो उतान पड़ा है।''[55] यह कहानी एक दलित ग्रामीण स्त्री के जागरूक होने की कहानी है। जंगली बहू पंचायत चुनाव जीतती है एवं गाँव की समस्याओं को दूर करने की कोशिश करती है। अन्याय के विरूद्ध गाँव के ठाकुरों से भी लड़ने को वह तैयार होती है, किन्तु वह प्रभु वर्ग के क्रोध का शिकार होती है और भीड़ में कहीं गुम हो जाती है।

'सन्निपात' में टिहरी गढ़वाल के एक गाँव की एक स्त्री सरोज को केंद्र में रखकर वहाँ के जीवन में व्याप्त धार्मिक रूढ़िवाद, जड़ता, सामंती आतंक और पुरूष–सत्ता की सर्वग्रासी चक्की में पिसती स्त्री के दुख–दर्द की अभिव्यक्ति हुई है। विद्यासागर नौटियाल ने गार्सिया मार्खेज की कथा–दृष्टि की तरह लगभग जादुई यथार्थवादी पद्धति का प्रयोग करते हुए सन्निपात से ग्रस्त सरोज की जबानी पूरे गाँव की कहानी सुनाते हुए लोक–जीवन में व्याप्त विकृतियों की पोल खोलने की कोशिश की है। इस कहानी में उस सच की अभिव्यक्ति है जिसके कहने से गाँव के संभ्रांत लोगों की झूठी शराफत की असलियत सामने आती है। इसके साथ ही पहाड़ के एक गाँव का ऐसा सच भी सामने आता है, जो सामंती और औपनिवेशिक प्रभावों को उजागर करता है। गाँव की स्त्रियाँ देश की आज़ादी की ख़बर के संदर्भ में अपनी आज़ादी के बारे में सोचती है। वे यह जानना चाहती हैं कि 'यह आज़ादी औरत को, आदमी की तरह, एक इंसान मानती है कि नहीं मानती है?' इस कहानी में स्त्रियाँ अपनी आज़ादी के बारे में केवल चिंता ही नहीं करती बल्कि उसके लिए कोशिश भी करती है और उनकी कोशिश से गाँव का पुरूषसमाज आतंकित हो जाता है। पपुरूषों का आंतकित होना ही स्त्री की आजादी की पहली मंज़िल है। विद्यासागर नौटियाल ने स्त्री–जीवन की पराधीनता के जिस सच की अभिव्यक्ति की है वह पहाड़ के अधिकांश गाँवों के स्त्री–जीवन का सच है।[56] आज का ग्रामीण परिवेश अत्यन्त विषाक्त हो गया है। परिवर्तित –सन्दर्भों में नये–रिश्ते विकसित हो

रहे हैं, ग्रामीण नारी इन सबसे प्रभाव ग्रहण कर, अपने विचारों में नव्यता ला रही है।

2.3 नयी आर्थिक नीति और गाँव की बदलती संस्कृति

भारतीय–संस्कृति का मूल एवं उसका सच्चा स्वरूप हमें ग्राम–जीवन में ही प्राप्त है। ग्राम–जीवन की बुनियादी गहराईयों के आधार को जाने बिना इस विशाल भारत के बहुविध रूप और उसकी आन्तरिक एकता को नहीं समझा जा सकता है। हमारी संस्कृति का मूल स्रोत कृषि है। हमारा सार सांस्कृतिक प्रसार कृषि और ग्राम–जीवन में ही परिव्याप्त है। मनुष्य के रूप में एक सामाजिक सदस्य के नाते जो वह करता है, सोचता है, वह सब जटिल सांस्कृतिक चक्र से बंधा है। संस्कृति ही वह आधार है, जिसके माध्यम से व्यक्ति ज्ञान, कला, नैतिकता, प्रथाएँ एवं परम्पराएँ सीखता है। संस्कृति एक सामाजिक विरासत है।

भारतीय कृषक का समस्त जीवन ग्रामीण–संस्कृति से अनुप्राणित है। ग्रामीण कलाएँ, पर्व, त्यौहार, संस्कार, रूढ़ियाँ, प्रथायें, रीति–रिवाज, खेलकूद आदि विभिन्न अवयवों के योग से संस्कृति बनती है। ये अवयव ग्राम–जीवन में व्यवस्था एवं अनुशासन के आवश्यक तत्व हैं तथा ग्रामीणों में घुले मिले हैं। स्वातंत्र्योत्तर ग्रामीण भारत में सांस्कृतिक परिवर्तनों की गति द्रुत हुई है। परम्परा–निबद्ध भारतीय दृष्टि को नवीन वैचारिक जगत का परिवेश प्राप्त हुआ, लोगों के वैचारिक एवं व्यावहारिक जीवन में सांस्थानिक परिवर्तन आये। गाँवों ने अधिकार–बोध का अहसास किया। देश की प्रजातांत्रिक सरकार में जन–सामान्य की साझेदारी का परिणाम उनमें राजनीतिक जागृति आई। इस चेतना ने नवीन संस्कृति के ताने–बाने बुने। गाँवों में भी शहरों की भांति प्राचीनता के प्रति अंधविश्वास, आध्यात्मिक शक्तियों के प्रति असंतोष तथा आधारहीन उज्जवल भविष्य की कामनाएँ उत्पन्न हुई और इसी के कारण आज का वर्तमान सांस्कृतिक संकट में है। गाँव की सांस्कृतिक एवं सामूहिक जिन्दगी में बेरोजगारी और महंगाई ने भी अपनी भूमिका निभाई। गाँव के घर द्वारों की समस्त रौनक दिनो दिन घट रही है, परिवार टूट रहे हैं, घर–बार टूट रहे हैं, गाँव–के– गाँव टूट रहे हैं और वहाँ का जीवन जीने योग्य नहीं रह गया है।

संस्कृति न पुरानी है और न नई, सभी कुछ अस्त–व्यस्तता की स्थिति में है। धार्मिक एवं सांस्कृतिक मान्यताएँ जर्जर हो चुकी है और नवीन स्थितियों के उत्कर्ष से वे प्रायः अर्थहीन हो गयी है। पश्चिमी सभ्यता को प्रभाव–छाया शहरों के माध्यम से गाँवों में जा रही है। और आज गाँव भी उसमें रंग से गये हैं। उनकी चेतना में विविध आवर्त पड़ गये हैं। कहीं वे नई सभ्यता से आक्रान्त है तो कहीं अपनी भौतिक आवश्यकताओं की आपूर्ति से पीड़ित है। स्वतंत्रतापूर्व ग्रामीण समाज में जजमानी व्यवस्था का अपना महत्व होता था। समाज में उन्हें सम्मान तथा प्रतिष्ठा प्राप्त थी। इसी जजमानी के सहारे उनका जीवन सुख–शांति से व्यतीत हो रहा था, लेकिन आर्थिक दुरव्यवस्था ने गरीबों को और अधिक गरीब बना दिया है।

भूमंडलीकरण और उदारीकरण नई आर्थिक नीति की देन है। भूमंडलीकरण शब्द का प्रयोग मुख्यतः आर्थिक जगत में किया जाता है, किन्तु यह सामाजिक और सांस्कृतिक प्रभाव भी रखता है। भूमंडलीकरण के बारे में महेन्द्र नारायण कर्ण का मानना है कि– ''भूमंडलीकरण, मुक्त बाजार की स्थिति में विश्व की अर्थव्यवस्थाओं के एकीकरण की प्रक्रिया है। मुक्त बाजार में व्यापार और पूंजी का मुक्त प्रवाह है तथा लोगों का राष्ट्रीय सीमाओं के पार आना–जाना शामिल है।''[57] इस तरह से भूमंडलीकरण की पहचान नई विश्व व्यापारिक तथा बाजारों के खुल जाने से है। विज्ञान तथा तकनीक ने नई आर्थिक व्यवस्था को फैलाने में काफी मदद की है। सूचना तकनीक ने इसके तत्काल प्रसार को सरल बना दिया है। सूचना तकनीक में दृश्य व श्रव्य मीडिया, टी.वी. इंटरनेट की मुख्य भूमिका है। नई आर्थिक नीति ने पूंजी आधारित बाजार की नींव डाली है। चाहे कृषि हो अथवा अन्य रोजगार, सभी में पूँजी की आवश्यकता है क्योंकि नए उपकरणों तथा नई तकनीक ने पारंपरिक उपकरणों और तकनीकों को स्थानान्तरित कर दिया है, इस कारण से मानवीय श्रम की महत्ता घटी है और पूंजी तथा तकनीक की महत्ता बढ़ी है। परिणामस्वरूप बेरोजगारी की समस्या भी खड़ी हुई है।

भूमंडलीकरण या उदारीकरण की नीति के कारण गाँवों में आज पारम्परिक जिंदगी और व्यवस्था टूटने लगी है। सामुदायिकता की भावना जहाँ ग्रामीण संस्कृति का मुख्य अंग थी, आज नष्ट हो रही है। बेरोजगारी की स्थिति में गाँव के

पारम्परिक कारीगर आज हथियारों के निर्माण में लग गए हैं, जिससे पूरा गाँव भय और आतंक के साये में जी रहा है। पुन्नी सिंह की कहानी 'मंसा बढ़ई' नई आर्थिक नीति के कारण गाँव की बदली संस्कृति की ओर संकेत करती है। कहानीकार ने लिखा है– ''आजकल गाँव में सर्दी की शाम अपेक्षाकृत कुछ जल्दी आ जाती है और आते–आते ही रात में तब्दील होने लगती है। अब यहाँ देर रात तक अगिहाने नहीं जलते, किस्से कहानियाँ नहीं कहे जाते। कहीं–कहीं इक्की–दुक्की ढोलक भी बजते नहीं सुनी जा सकती। कोई उमगकर गाता नहीं। कोई खुलकर रोता नहीं। यहाँ रात के समय भय और आतंक, दो चीजें ही सर्वव्यापी देखी जा सकती है।''[58] गाँव की संस्कृति में लोक–गीत तथा लोक–नृत्य सदियों से चली आ रही परम्परा के रूप में जाने जाते है। लोगों के जीवन में उत्साह और उमंग के प्रतीक के रूप में जाने जाते हैं। ये गाँव के लोगों को एक–दूसरे से जोड़ते है। किन्तु नई व्यवस्था ने गाँव की जीवंतता को छिन लिया है। गाँव के लोगों के रहन–सहन, रीति नीति सभी आज टूट के कगार पर है। पहले गाँवों में हथियार यदा–कदा ही दिखाई पड़ते थे, किन्तु अब सभी लोगों के पास दिखाई पड़ जाते हैं। कहानी का नायक मंसा राम ''बस एक तुम्हारे घर को छोड़कर गाँव के हर घर में राजपाल के हाथ का बना कोई न कोई असला जरूर तुम्हें मिलेगा।''[59] देश के गाँव तेज़ी से बदल रहे हैं। गाँव के कारीगर तबाह हो रहे हें, वे अपना पुश्तैनी पेशा छोड़कर रोजी–रोटी के लिए दर–दर भटकने को मजबूर हो रहे हैं। मंसा बढ़ई गाँव की बदली हुई स्थितियों में अपनी कारीगरी से अपना पेट पालने में असमर्थ है, ''जब खेती–किसानी के काम से हल–बैलों का पत्ता साफ हो रहा था तभी मंसा बढ़ई के हुनर की कद्र घटने लगी थी। उसके बाद उसकी लोहसारी में भट्ठी कभी–कभी ही दहकती थी। कार्यशाला में झाड़ू कभी–कभी ही दहकती थी। जैसे–जैसे समय बीतता जा रहा था, वैसे–वैसे हालत और भी ज्यादा बिगड़ती जा रही थी। अब मंसा चाचा को खाने के लाले पड़े थे।''[60] इस स्थिति से मजबूर होकर मंसा और उसका परिवार हथियारों के निर्माण और उन्हें बेचने का कारोबार करता है। परिणामस्वरूप गाँवों में आतंक की छाया मंडराने लगती है।

आर्थिक प्रगति ने हमारी सांस्कृतिक पहचान को छिन लिया है। भूमंडलीकरण तमाम विविधताओं को नष्ट कर एक विश्वव्यापी संस्कृति लाने का काम करती है। विविधताओं के नष्ट होने से संस्कृति का भी नाश होता है। प्रमुख समाजशास्त्री महेन्द्र नारायण कर्ण मानते हैं कि, ''भूमंडलीकरण सम्पूर्ण विश्व को एक ही व्यवस्था मानता है, अतः उसकी कोशिश एक विश्व संस्कृति की रचना करना है। अतः विश्व संस्कृति के उदय के लिए यह स्थानीय संस्कृति तथा अपसंस्कृति के लोप को उचित सिद्ध करता है।''[61] इस तरह से भूमंडलीकरण राष्ट्रों की सांस्कृतिक स्वायत्तता को खत्म करता है। नई आर्थिक व्यवस्था से परम्परागत सांस्कृतिक ढांचे एवं संस्थाओं का विघटन हो रहा है। सहयोग, सहभागिता, समन्वय जैसे मूल्यों में गिरावट तथा तनाव में वृद्धि इसी नई विश्व संस्कृति की देन है। हमारी ग्रामीण संस्कृति की यह अप्रतिष्ठा भूमंडलीकरण का एक गंभीर नकारात्मक पहलू है। गाँवों में आज टी.वी. तथा वीडियों सीडी के द्वारा नए–नए गाने तथा नृत्य, फिल्म आदि दिखाए जा रहे हैं, जिससे गाँवों की स्थानीय भाषा एवं संस्कृति नष्ट हो रही है। अब गाँव का युवावर्ग वही भाषा बोलता है जो संचार माध्यमों द्वारा इन्हे सिखायी जा रही है। स्थानीय नृत्य तथा संगीत की समृद्ध परम्परा विलुप्त प्राय हो चली है। गाँवों में जहाँ पहले पर्व–त्योहारों में नाटकों, रामलीलाओं का आयोजन होता था, अब दिखाई नहीं पड़ते। होली के त्यौहार में पहले फाग गाए जाते थे, चैत के महीने में चैतार गाए जाते थे, किन्तु नई पीढ़ी को इसमें कोई रूचि नहीं। अब वे फिल्मी गाने ही गाते हैं। दिनानाथ मनोहर की कहानी, ''.. और जंगल शांत हुआ।'' आदिवासियों के अपने बदलते हुए समाज की कथा है जो अतीत को भूल नही रहे हैं या जो समय के साथ बदल नहीं पा रहे है और अतीत की यादों को संजोय खत्म हो रहे हैं यानी एक पूरी पीढ़ी खत्म हो रही है। कहानी का नायक वंकाबाबा ढोल बजाने में पारंगत है। जब अतीत में वह ढोल बाजाता था तो पूरा का पूरा गाँव, जंगल में जुट जाता था और सबकी आँखों में बस एक ही भाव होता था–प्रशंसा का भाव, उसकी महारत पर गौरवन्वित होने का भाव, ''..... कितने दूर–दूर से ढोल आये थे और प्रत्येक ढोल के साथ गाँव के जवान लड़के–लड़कियां बड़े से मैदान में दूर तक जगह–जगह घेरा बनाकर बिखरे थे। ... पर वंकाबाब का ढोल बजता ही रहा।... वंकाबाबा को कंधे पर उठाकर गाँववाले

नाचते हुए मंत्री के पास गए। वाजा खुद आगे बढ़े और वंकाबाबा के गले में फूलों की माला डाल दी।''[62] पर अंतराल ने ढोल का स्थान बैण्ड–बाजे ने ले लिया है। पहले वाली बात नहीं रह गई। अब वंकाबाबा के ढोल के कोई सुनना नहीं चाहता है।

नई आर्थिक व्यवस्था में बाजारवाद और उपभोक्तावाद को बढ़ावा देने में मीडिया की महत्वपूर्ण भूमिका है। मीडिया उन बहुराष्ट्रीय कंपनियों के इशारे पर नाचती है। मीडिया हमें अमुक वस्तुओं संसाधानों के उपयोग करने को मजबूर कर देती है। राजेन्द्र यादव लिखते हैं, ''मीडिया का उपयोग लोगों को वस्तुओं से परिचित कराने के लिए नहीं होता, उन वस्तुओं की जरूरतों को अनिवार्य बनाने के लिए किया जाता है। मीडिया आपके भीतर नई वस्तुओं की आकांक्षा जगाने का माध्यम है। अगर आपने अमुक क्रीम नहीं लगाई तो न आपकी त्वचा गोरी हो सकती है न मुलायम। सारी प्रसाधान सामग्री का जोर गोरा बनाने पर है और यह क्रीम, पाउडर बेचने के साथ–साथ गोरी नस्ल को संसार की सर्वश्रेष्ठ नस्ल के रूप में स्वीकार करने की प्रछन्न मजबूरी पैदा करती है। गाँव–कस्बों की सुदूर गलियों में बैठी लड़कियाँ विश्व सुंदरी बनने के सपने के लिए पड़ोस के नए–नए खुले ब्यूटी पार्लर के रोज चक्कर लगाती है।''[63] वस्तुतः नई आर्थिक व्यवस्था ने जो संस्कृति लाई है वह बैचेन संस्कृति है। व्यक्ति के अंदर यह हीनताबोध उत्पन्न कर रही है। जिसके पास सामर्थ्य है वह तो उपभोग की वस्तुएं पा लेता है, किन्तु जिसके पास सामर्थ्य नहीं वह हीन भावना से ग्रसित हो जाता है। कुछ लोग तो बाजारवाद के जाल में फंसकर एक साधारण आदमी की जान गंवाने की त्रासदी को चित्रित किया गया है। इस कहानी में निम्न आय वर्ग का एक व्यक्ति इंस्टॉलमेंट पर टी.वी. किसी तरह खरीद तो लेता है, किन्तु पैसे के अभाव में वह अपना इलाज नहीं करवा पाता और अंततः टी.वी. देखते–देखते उसकी जान चली जाती है। कहानी का नायक विशन टी.वी. देख रहा होता है कि टी.वी. पर एक प्रचार आता है, ''शक्ति एवं सम्पूर्ण खाद्य है। थके हारों के लिए। दूध में डालिये और पी जाइए।.... शक्तिशाली, हृष्ट–पुष्ट और चुस्त–दुरूस्त बनने का राज शक्ति! शक्ति! शक्ति! ..... 'नहीं–नहीं मुझे नहीं चाहिए' विशन ने लगभग चीखकर दोनों हाथों से उसे रोकना चाहा था।

न जाने कितने दाम का हो, यह बस चीजें उसके अनुमान से परे थी।''[64] विशन उस उपभोक्तावादी और बाजारवादी संस्कृति में अपनी आकांक्षा को नही रोक पाता और टी.वी. खरीद लेता है फिर टी. वी. पर जो प्रचार आते हैं उससे वह बिल्कुल परेशान हो जाता है। वह तो मुश्किल से टी.वी. की कीमत चुका पाता है वह भी अपने इलाज से समझौता करके। अंत में बीमारी के कारण वह मर जाता है। 'तिलेसरी' कहानी में सुभाषचंद्र कुशवाहा ने लिखा है, ''नई पीढ़ी के लड़कों के दारू और ऐय्याशी में डूब जाने के कारण बाग–बगीचे और परती सब कुछ धीरे–धीरे बिकती चली गई है।''[65] नई आर्थिक नीति में सरकार ने शराब और कई नशीले पेय पदार्थों की कीमतें घटा दी हैं, जिसके कारण इसका प्रयोग युवा वर्ग अधिक करने लगा है। बाजारवाद की यह संस्कृति लोगों में कुण्ठा उत्पन्न कर रही है तथा अमीर और गरीब के भेद को बढ़ा रही है।

कैलाश बनवासी की कहानी 'एक गाँव फुलझर' में पैर पसारते मशीनीकरण के कारण बेकारी को बयाँ करती है। गाँव में फैक्ट्री लगने वाली है और वहाँ पहली बार जे.सी.बी. मशीन आयी है। कहानी के पात्र गुरु जी इन सबसे चिंतित हो जाते हैं कि सपने में उन्हें विद्यालय की जगह रासायनिक गंध युक्त पदार्थों का ढेर नजर आता है।[66] शहरों में फैलते 'पॉप कल्चर', फैशन और भौतिकता की ओर झुकाव से गाँव भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। 'ऋता शुक्ला' की कहानी 'सरबहारा' में इस प्रभाव के कारण गाँवों में आए बदलाव को उजागर किया गया है। कहानी के तिलकधारी पंडित को अपने पोते शिवा से उम्मीद थी कि वह शहर में पढ़ते हुए अपने गाँव को नही भूलेगा लेकिन उनकी उम्मीद धूल–धूसरित हो गई, ''गाँव अब गाँव नही रह गया है... ''खेतों की मेड़ पर पतलून के चौड़े–चौड़े पाँयचे उठाए दुखिया के झार की ओर तेज–तेज भागे जा रहे नये नोहार लड़कों को देखकर मचान पर बैठे तिलकधारी बाबा लंबी उसाँस लेते हैं– ''कौन कहेगा कि ये मरद के बच्चे हैं? मरदानगी का यही रूप होता है? दाढ़ी मूँछ मुंड़ी हुई, बड़े–बड़े रूखड़े केस लिलार से लेकर कनपटियों और गले तक फहराते हुए... जैसे मरियल घोड़े की गरदन पर झूल रहे बालों की उलझी हुई गाँठें हों''[67] गाँवों के नवयुवक शहर की

फैशनपरस्ती के पीछे भागते हैं और शहर की नीरस, डरावनी और भागदौड़ भरी जिंदगी से आजिज आ चुके लोग गाँव में बस जाना चाहते हैं।

नई आर्थिक नीतियों के कारण जिस तरह से गाँव के लोग बेरोजगार हो रहें हैं, ऐसे में वे रोजगार की तलाश में शहरों की ओर पलायन करने को मजबूर हुए हैं। गाँव से युवकों के पलायन से वहाँ की जीवन्तता खत्म होने लगी हैं। गाँव की जीवंतता वहाँ की संस्कृति का द्योतक होती है। मजदूरों और किसानों के पलायन से खाली हो रहे गाँव में संस्कृति का संकट उत्पन्न हो गया है। प्रेमकुमार मणि की 'खोज' कहानी में विलुप्त हो रही गाँव की जीवंतता को केन्द्र में रखा गया है। कहानीकार ने लिखा है, ''सभी घरों में ताले लगे हैं, क्योंकि गाँव में, कोई मनुष्य है ही नहीं। सूनी गलियों को बार–बार देखता हूँ ..... पूरे गाँव में न कोई मनुष्य है, न कोई जानवर, न परिंदा। फिर कैसा गाँव है यह जहाँ सड़कें हैं, मकान हैं, तालाब है पर मनुष्य नहीं है?''[68] लेखक इस कहानी में यह संकेत करता है कि आने वाले समय में ग्रामीण समाज अपनी जड़ से कटकर शहर की भीड़ में खो जाएगा और इस तरह गाँव की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान भी खत्म हो जाएगी।

गाँव में नई आर्थिक नीतियों के कारण जो गरीबी और भुखमरी आई है, उसने पूरी ग्रामीण संस्कृति को प्रभावित किया है क्योंकि भूखा व्यक्ति संस्कृति की परवाह नहीं कर सकता, उसकी चिंता तो सिर्फ पेट भरने की होगी। बेरोजगारी और गरीबी के इस दौर में गाँवों में उग्रवादी और नक्सली गतिविधियाँ बढ़ी है। इस कारण भी गाँव की संस्कृति नष्ट हुई। इन गतिविधियों ने आदमी और आदमी के बीच फर्क पैदा कर दिया है। आरंभ से गाँव एक स्वायत्त ईकाई रही है जिसमें कुछ चीजों को छोड़कर जरूरत की लगभग सारी चीजें गाँव में ही मिल जाया करती थीं, किन्तु बाजारवाद ने लोगों को शहरों पर आश्रित बना दिया है। अब लोगों की बढ़ती जरूरतें उन्हें शहरों की ओर आकर्षित करती हैं। गाँव के बाजार में तो प्राथमिक चीजें ही मिला करती है, किन्तु प्रसाधान के विशेष सामान तो उन्हें शहरों में ही मिलेंगे। इस तरह से गाँव की पहचान मिट रही है। लोगों के पहनावे बदल रहे हैं। गाँव के लोग अब खादी या सूती के वस्त्र नहीं पहनते उन्हें शहरों के परिधान ही पंसद आते हैं। गाँवों में शहरी लोगों के आने से शहरी संस्कृति गाँवों को प्रभावित

कर रही है। इसमें पर्यटन उद्योग की भी भूमिका है। इस तरह हम देखते हैं कि नई आर्थिक व्यवस्था से उपजे बाजारवाद और उपभोक्तावाद ने ग्रामीण जीवन की संस्कृति को प्रभावित किया है और उसकी सामुदायिकता, उसकी कला, उसके गीत–नृत्य आदि सभी को बदल रहा है। इसने आदमी और आदमी के बीच के समन्वय को नष्ट किया है और बहुलतावादी संस्कृति को नष्ट कर एकीकृत वैश्विक संस्कृति को स्थापित करने की कोशिश की है। उपभोक्तावादी संस्कृति में आदमी अधिक से अधिक कमाकर भी असंतुष्ट है क्योंकि उसे अभी बाजार से बहुत सी चीजें खरीदनी है। आज उसके पास जो वस्तु पड़ी है वह तकनीकी रूप से पिछड़ गई है। वह नई तकनीक वाली वस्तु खरीदना चाहता है। और इस नई तकनीक का कोई अंत नहीं। गाँवों में ट्रैक्टर आने से हल–बैल की संस्कृति खत्म हो रही है। लोगों के बेरोजगार होने एवं हथियार बनाने तथा नक्सली बनने के कारण गाँव में आंतक की संस्कृति पनप रही है। ये सब चीजें हमें यह सोचने पर मजबूर कर देती है कि कहीं–न–कहीं हमारी विकास प्रक्रिया में खामी जरूर है।

संदर्भ ग्रंथः–

1. लुईस, प्रकाशः जनशक्ति (अनु. रामकविन्द्र सिंह), पृ. 34 से उद्धृत
2. चौबे, देवेन्द्र : समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, पृ. 174
3. सृंजयः कामरेड का कोट, पृ. 130
4. कुशवाहा, सुभाषचंद्रः कथा में गाँव, पृ. 143
5. वही, पृ. 146
6. वही, पृ. 146
7. जायसवाल, चंद्रकिशोरः 'हिंगवा घाट में पानी रे', हंस, मई, 1987, पृ.59
8. मिश्र, डॉ. राहुलः आठवे दशक के बाद हिंदी कथा–साहित्य पृ. 89
9. वहीं, पृ. 89
10. कांटक, सुरेशः खंडित सपनों का नायक, पृ. 110
11. वही, पृ. 117
12. वही, पृ. 126
13. कांटक, सुरेशः जाग मुसाफिर भोर भयो, पृ. 32
14. वही, पृ. 33
15. कुशवाहा, सुभाषचंद्रः कथा में गाँव, पृ. 251
16. वही, पृ.. 251
17. वही, पृ. 10
18. वही, पृ. 251
19. वही, पृ. 11
20. वही, पृ. 253
21. वही, पृ. 186
22. वही, पृ. 11
23. वही, पृ. 191
24. वही, पृ. 11
25. वही, पृ. 238
26. वही, पृ. 239
27. वही, पृ. 239

28. वही, पृ. 241
29. वही, पृ. 243
30. वही, पृ. 243
31. वही, पृ. 11
32. गुप्त, डॉ. ज्ञानचन्दः स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ.110
33. शरण, गिरिराजः ग्राम्य जीवन की कहानियाँ, पृ.104
34. सिंह, पुष्पपालः समकालीन हिंदी कहानी, पृ. 53
35. कुशवाहा, सुभाषचंद्रः कथा में गाँव, पृ. 265
36. वही, पृ. 266
37. वही, पृ. 271
38. शरण, गिरिराज : ग्राम्य जीवन की कहानियांः पृ. 66
39. वही, पृ. 66
40. कुशवाहा, सुभाषचंद्रः कथा में गाँव, पृ. 262
41. वही, पृ. 109
42. वही, पृ. 115—116
43. वही, पृ. 88
44. वही, पृ. 88
45. वही, पृ. 83
46. वही, पृ. 94
47. वही, पृ. 210
48. वही, पृ. 210
49. वही, पृ. 214
50. वही, पृ. 214
51. वही, पृ. 223
52. वही, पृ. 223
53. वही, पृ. 225
54. वही, पृ. 232
55. वही, पृ. 32

56. वही, पृ. 7
57. कर्ण, महेन्द्र नारायणः भारत में सामाजिक परिवर्तन, एनसीईआरटी, 12 कक्षा के लिए, पृ.56
58. कुशवाहा, सुभाषचंद्रः कथा में गाँव, पृ. 178
59. वही, पृ. 179
60. वही, पृ. 182
61. कर्ण, महेन्द्र नारायणः एनसीईआरटी, 12 कक्षा के लिए, पृ.76
62. गुप्ता, रमणिकाः आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ.211
63. जोशी, रामशरण (सं): वैश्वीकरण के दौर में, राजेन्द्र यादव के लेख, 'मगर रास्ता है' से, पृ. 167
64. बिष्ट, पंकजः चर्चित कहानियां, पृ. 74
65. कुशवाहा, सुभाषचंद्रः तिलेसरी, कथा में गाँव, पृ.225
66. मिश्र, डॉ. राहुलः आठवें दशक के हिंदी कथा–साहित्य, पृ. 88
67. शुक्ला, ऋताः 'सरबहारा', पृ. 22
68. मणि, प्रेमकुमारः खोज और अन्य कहनियाँ, पृ. 130

3.1. ग्रामीण जीवन में किसान

कृषि के द्वारा आजीविका चलाने वाला समुदाय कृषक समाज कहलाता है। अँग्रेजी में इसके लिए फारमर एवं पीजेंट शब्द दिए गए हैं। फारमर शब्द पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के आने के बाद के किसानों के लिए किया जाता है जहाँ ये खेती में पूंजी का प्रयोग मुनाफा कमाने के लिए करते हैं जबकि पीजेंट शब्द पारम्परिक ढंग से खेती करने वाले किसानों के लिए किया जाता है जो खेती से आजीविका चलाते हैं। इस संबंध में गिरीश मिश्र कहते हैं– 'फारमर हैज कम इन टू विंग ऑनली विद द एडवेंट ऑफ कैपिटलिज्म वेन प्रोफिट विकेम इ द मेन मोटिव ऑफ एग्रीकल्चरल वर्क। स्ट्रीकटली स्पीकिंग ए पीजेंट इज वन टू हैज द राइट टू कल्टीवेट द पीस ऑफ लैंड, ही वर्क एण्ड ग्रोज क्रॉप्स ऑन हिज प्लॉट विद द हेल्प ऑफ हिज फैमिलीज लेवर दि मेन एम ऑफ प्रोडक्शन इज टू सटिस्फाई द नीड ऑफ हिज एण्ड हिज फैमिली।'[1] अर्थात् किसान का आविर्भाव पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के आने के बाद होता है, जहाँ मुनाफा कमाना उनके कृषि का मुख्य उद्देश्य था। स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि कृषक वह है जो जमीन के एक टुकड़े पर अपने परिवार की सहायता से कृषि करता है और उसका मुख्य ध्येय स्वयं तथा परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति करना होता है। गाँवों में खेतिहर समाज को मुख्यतः पांच भागों में बाँटा गया है–

1. सामंत–जिनके पास भूमि होती है किन्तु वे खुद श्रम नहीं करते। अपनी जमीन दूसरों को देकर खेती करवाते है तथा वे खुद उद्योग और व्यवसाय में लगे होते है। 2. अमीर किसान– वे खुद खेती करते हैं तथा कुछ बचे खेत को किराये पर देते हैं। 3. मध्य किसान–इनकी पूरी आय कृषि से होती है। 4. गरीब किसान– इसके पास थोड़ी भूमि होती है या इसके अलावे किराये पर भूमि लेते है। इनकी आजीविका इसी पर टिकी होती है। 5. श्रमिक– इनके पास अपनी भूमि नहीं होती। ये दूसरों के खेतों पर काम करते है। गरीब किसान और मजदूर की स्थिति दयनीय होती है। इस अध्याय में निम्नवर्गीय किसानों एवं श्रमिकों के बारे में ही विचार किया गया है।

हमारा देश कृषि प्रधान देश है, जिसकी संस्कृति खेतों और खलिहानो में विकसित हुई है। किंतु वर्तमान समय में कृषक समाज संकट के दौर से गुजर रहा है। ऐतिहासिक विकासक्रम पर नजर डाले तो स्पष्ट होगा कि अँग्रेजों के आने के पहले किसानों की स्थिति कुछ जगहों पर सूखे की समस्या को छोड़कर लगभग अच्छी रही है, किन्तु अंग्रेजों के शासनकाल और आजादी के बाद के समय में भी किसानों की आर्थिक और सामाजिक जिंदगी दुरूह हो गई है। आजादी के पहले का किसान पराधीन भारत में भूखों मरता था और आज का किसान स्वाधीन भारत में भूखों मरता है किसानों की दयनीय दशा से द्रवित होकर ही साहित्यकारों ने आजादी के पूर्व और आजादी के बाद अनेक कहानियाँ लिखी हैं। आजादी के पूर्व में प्रेमचंद एक सशक्त कहानीकार रहे हैं जिनकी कहानी 'पूस की रात', 'अलग्योझा', 'कफन', 'सवा सेर गेहूँ' आदि किसानों की जिंदगी का जीवित दस्तावेज रही है। महात्मा गाँधी द्वारा किसानों के लिए लड़ी गई लड़ाइयाँ और आंदोलन स्वाधीनता संग्राम के इतिहास में अविस्मरणीय हैं। ये सभी बात इस बात के संकेत है कि कृषक समाज और खेती देश की अर्थव्यवस्था की रीढ़ है, जिनके टूटने पर पूरा देश लड़खड़ा जाता है। अतः इनकी चिंता करना लाजिमी है। स्वतंत्रता के बाद के साहित्यकारों ने भी किसान मजदूर जीवन पर आधारित सशक्त कहानियाँ लिखी हैं, जिनमें 'विस्फोट', 'हल', (विजेन्द्र अनिल), 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन' (सुरेश कांटक), 'पुण्यात्मा' (कमलकांत त्रिपाठी), 'तिरबेनी का तड़बन्ना' (संजीव), 'मरीधार', 'बीच का समर' (विजयकांत), 'कामरेड का कोट '(सृंजय)', 'मेघना का निर्णय' '(मिथिलेश्वर), 'एहि नगरिया केहि विधि रहना', 'एनकाउंटर' (चंद्रमोहन प्रधान), 'मेरे गाँव के लोग' (मधुकर सिंह), 'कामरेड का सपना' (बलराम), 'मुआवजा' (अंजना रंजन दाग), 'चंपा', 'बच्चे बड़े हो रहे हैं' (मदन मोहन), 'विषबेल' (जयनंदन), 'माघ की रात' (बासुदेव) आदि प्रमुख है। ये कहानियाँ ग्रामीण समुदाय में खेतिहर मजदूरों, किसानों (सीमांत एवं छोटे किसान) की जिंदगी को यथार्थ रूप में अभिव्यक्त करती है।

ग्रामीण किसान की प्रमुख समरूप जमीन तथा कृषि संबंधी समस्याएँ ही रही है। गाँव के किसान अपने छोटे से जोत के टुकड़े में खेती करते हैं। लेकिन खेती

संबंधी साधनों की पूर्ति के लिए कभी–कभी महाजनों, मालिकों से कर्ज लेना पड़ता है, जिसके कारण इन्हें अपनी जमीन को गिरवी भी रखना पड़ जाता है। पैदावार अच्छी हो या खराब सूद की समस्या हमेशा इनके लिए बनी रहती है। वासुदेव की 'माघ की रात' हमें प्रेमचंद की कहानी 'पूस की रात' की याद दिलाती है। माघ महीने की भयानक ठंड और अलाव के वातावरण में बुनी गई यह कथा वस्तुतः किसान के जीवन की भूख की कथा है। कहानी के दो पात्र रामसरूप और हबीब के माध्यम से वासुदेव ने ग्रामीण समाज में किसान के जिस गरीबी और भूखमरी को चित्रित किया है वह भयानक है। रामसरूप अपने मित्र हबीब से कहता है– ''अरे क्या खाऊँ? सेर सवा सेर अलुआ है और छटाक भर मूंग दाल जब मैं ही सब खा लूंगा तो वह क्या खाएगी? कल किस बूते जाएगी कमाने, मैं तो भूखा प्यासा पड़ा रहूँगा, पर वह .....? जवान लड़की भला उसे नींद आएगी? वैसे भी वह पेट से है।''[2] यह हमारे सामने दारूण स्थिति पैदा करता है। कहानी के दूसरे दृश्य को देखें– ''बिछावन का उपाय कर दिया? कल तो बोले थे कि कहीं से थोड़ा फआल मांग कर लाएँगें.....? हाँ माँगकर लाया तो, थोड़ा बालो को दे दिया, थोड़ा अपने पास रखा, बिछाने भर का तो हो गया है, पर ओढ़ने की दिक्कत है, आज कल में बालो (बलकेसिया जो उसकी बेटी है) को कुछ पैसे मिलेंगे तो एक दो बोरा खरीदूंगा। लेदरा फट गया है, लगता है, उससे माघ नहीं कटेगा।''[3] 'पूस की रात' का मजूदर, किसान जिस ठंड से रात भर ठिठुरता है, वहीं ठंड माघ की रात में हबीब और रामस्वरूप को परेशान करती है। पहले की कहानी में स्वतंत्रता के पूर्व का गाँव है, दूसरी में स्वतंत्रता के बाद का गाँव। पर दोनों की दशा एक जैसी है।

कर्ज की समस्या किसानों के लिए इतनी भंयकर है कि वे चाहकर भी इनसे छूट नहीं पाते। कर्ज की समस्या कभी–कभी इतनी बढ़ जाती है कि किसान उसे कभी–चुका नहीं पाता और उसे अपने ही जमीन से बेदखल होना भी पड़ जाता है। 'कलम हुए हाथ' कहानी में बलराम बताते हैं कि किस प्रकार राजा ठाकुर बड़ी चालाकी से माधो किसान के खेत को हड़प लेना चाहता है, ''सवेरे ठाकुर ने हिसाब लगाकर बताया था कि हम उनका एक हजार से ज्यादा कर्जा हो गया है। सो कागज पर दस्तख्त करवाने के बाद बोले कि चाहे हमारे रूपये वापस कर दो, चाहे

एक बीघा का बैनामा कर दो या फिर तीनों बीघे खेत दो साल तक जोतने–बोने को दे दो।..... एक हजार रूपया दइ नाईं सकत हन। एक हजार के बदले मां तीन हजार के एक बिगहा क्यार बैनामा कइसे करि देन।''[4] यहाँ स्पष्ट है कि ठाकुर का कर्ज माधो किसान चुका नहीं पाता है। वह बेबस हो चुका है। जमीन बेचने के अलावा माधो के पास कोई रास्ता नहीं बचा।

'मरीधार' कहानी में विजयकांत ने निम्न तबके के एक डोम चमकू को कहानी का नायक बनाया है, जिसके पास अपनी जमीन नहीं है और वह ठाकुर की जमीन में ही पुश्तों से मजदूरी करता रहा है। नायक इस व्यवस्था से प्रश्न करता है, ''किससे पूछकर बाहर आया मैं, कहाँ गिर गया इस पृथ्वी पर मैं? कहीं तो होगी वह दो बित्त भुई जहाँ मेरा नाड़ा कटा होगा, फिर मेरे तलुए के लिए जमीन क्यों नहीं है? दो सौ साल से जिस भूमि पर उसका वंश रहा वह भूमि उसकी नहीं है।''[5] यहाँ मजदूर के जीवन का संघर्ष का चित्रण किया गया है। रामदास एक आस्थावान और ईमानदार आदमी है। वह बिना किसी लालच के खेतों की रखवाली करता है, कड़ी मेहनत करता है, फिर भी उसे भूखा रहना पड़ता है। यही रामदास बाद में अपने मालिक द्वारा बेईमान करार कर दिया जाता है। वह सब कुछ छोड़कर कलकत्ता चला जाता है और जब वह वापस आता है तो बीमार होता है, जिसे देखने उसका मालिक तक नहीं आता। जहाँ उसने वर्षों तक काम किया वह मुँह फैर लेता है। अंत में रामदास अविश्वास और लूट का आरोप लेकर देह त्याग देता है।

आर्थिक दुरव्यवस्था ने बेगार की समस्या को उत्पन्न कर दिया है। खेती के लिए भी पूंजी की आवश्यकता होती है। क्योंकि किसानों के लिए गाँव में खेती के अलावा और कोई दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता है। सुरेश कांटक 'सेमर के फूल' कहानी द्वारा किसानों के धनाभाव से खेती पर पड़ने वाले प्रभाव को दिखाते हुए, गाँव में बेगारी की समस्या को भी बताते हैं, ''दूसरा रोजगार तो है नहीं गाँव में। जिसके पास पूंजी–पगल नहीं है, वह भी इसी में लग जाता है। खेती हुंडी हगती है थोड़े। ..... बिना पूंजीवाला केवल हाड़ ठेठाता है। इसीलिए लोग भाग रहे हैं दिल्ली पंजाब बहुत सारे रोजगार है वहाँ।''[6] यहाँ स्पष्ट है कि मजदूरी की समस्या के

कारण जीविका के अभाव की पूर्ति करने के लिए किसान अब परम्परागत खेती को छोड़कर रोजगार के लिए गाँव छोड़कर जाने लगे हैं। इसी पलायन को रोकने हेतु किसानों को अधिक–से–अधिक सुविधाएँ देने के लिए सरकार द्वारा योजनाएँ या कार्यक्रम भी चलाए जा रहे हैं, ताकि उन्हें कम दामों पर सस्ते खाद, बीज, पानी की सुविधा, ट्रैक्टर जैसे उपकरण उपलब्ध हो सके। लेकिन सरकार द्वारा दी गई सारी सुविधाएँ भी बड़े किसानों, लघु सामंतों द्वारा हड़प ली जाती है। इसी कहानी में कहानीकार आगे लिखते हैं, ''हम लोगों की तरह बिना नाधा–पैना के नहीं है वे लोग। जिसके पास बोरिन है, ट्रैक्टर है, महंगे खाद बीज के पैसे हैं, लाठी का जोर है..... तब भी गरीबों को चूसते ही हैं। सारी सुविधाएँ है, तब भी लघु और सीमांत बनकर सरकारी सुविधाएँ हड़प जाते हैं।''[7] गरीब किसानों के जीवन की दुर्दशा का सवंदेनात्मक तरीके से चित्रण करती हुई, सुरेश कांटक की एक अन्य कहानी 'मकड़जाला' में ऐसे ही सामंती लोगों की चर्चा की है, जो सरकार से मिलने वाली सुविधाएँ मार जाते हैं, ''सरकार से जो भी छूट मिलती है, सारा वे ही लील जाते हैं। कर्मचारियों को घूस देकर सीमांत किसान का प्रमाण लेते है और मुफ्त बोरिंग, मुफ्त में खाद और मुफ्त में मशीनें सब प्राप्त कर लेते हैं। चलती इन्हीं की है।''[8] यहाँ स्पष्ट है कि प्रशासनिक व्यवस्था में किस हद तक भ्रष्टाचार व्याप्त है। सरकारी कर्मचारी पैसों के लालच में आकर सामंतवादी वर्गों के लोगों का साथ देते हैं, जिनके कारण सुविधाएँ किसानों तक पहुँच ही नहीं पाती।

परिवार के भरण–पोषण करने के लिए किसान दिन–रात खेतों में काम करता रहता है। उनके लिए एकमात्र जीविका का साधन खेती ही है। गाँव के किसान अपने छोटे से जोत के टुकड़े में खेती करते है। जहाँ एक ओर खेती संबधी साधानों की पूर्ति के लिए कभी–कभी महाजनों, मालिकों से कर्ज लेना पड़ता रहता है, वहीं मौसम संबंधी समस्याएँ भी किसान के लिए मुसीबतों का पहाड़ खड़ा कर देती है। कहानी 'आकाशवृत्ति' में विवेकी राय ने सीतल नामक कहानी का नायक ऐसे ही किसान की समस्या दिखाई है, वह चाहता है कि इस साल होने वाली फसल को बेचकर महाजन का सारा कर्ज चुका देगा और अपना खेत छुरा लेगा।

ओले और बारिश सारी फसल को नष्ट कर देते हैं, ''सीतल ने खेतों की ओर देखा। देखता रह गया। देखने में डूब गया। सुध–बुध खो गयी।.....

'फसल कटकर गिर रही होगी।'

'हाँ। सब कटकर बरबाद हो जाएगी, एक ने कहा।

'कुछ बचेगा नहीं?'

'कुछ नहीं।'

'सब बरबाद हो जाएगा?'

'सब हम लोग कैसे जीयेंगे? .....'

'सर्वनाश हो गया। भगवान कहाँ हो? कहाँ हो? .....।''[9]

इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि किसान हाड़–तोड़ परिश्रम करता है। पर फिर भी मौसम की मार के आगे वह बेबस हो जाता है। उसकी सारी मेहनत एक क्षण में बेकार हो जाती है और वह केवल देखता ही रह जाता है।

गाँव में कुछ ऐसे भी वर्ग दिखाई पड़ते हैं, जिनके पास पूंजी की कोई कमी नहीं है। खेती के सभी साधान उनके पास उपलब्ध है। आधुनिक तकनीकों के सहारे वह कई बनिहारों का काम कुछ ही समय में निकाल लेते हैं। 'कुछ दाने के माने' में ऐसी ही बड़े किसानों की चर्चा विवेकी राय करते हैं, ''अब कटिया कहाँ अँटती है?' उसने उत्तर दिया, 'घण्टे–दो घण्टे में साफ। जमाना बदल गया। ...शाम तक कट सकने वाला खेत सुबह ही खड़े–खड़े उड़ गया।... खेतों में जितने पौधे नहीं, बनिहारों के घर उतने पुत्रों की कच्ची फसल खड़ी है। झोपड़ी की भीषण पैदावार ने खेत की पैदावार को धकिया दिया। दिन–भर की कटिया घण्टों में हो जाती है। कल मिनिटों में हो जाने लगेगी। परसों पलक मारते खेत साफ!''[10] सामंती मानसिकता और जातीय अभिमान ने गाँव के किसानों की बदहाली में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है जोकि समकालीन कहानीकारों की कहानियों में दिखाई देती है।

3.2 ग्रामीण जीवन में मजदूर

ग्रामीण–जीवन की सरंचना में दो तरह के लोग होते हैं– 'एक, ग्रामीण–जीवन को संचालित करने वाले लोग और दो, वे जो उनके अंदर परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से काम करते हैं। यहाँ, पहला समूह मुख्यधारा का होता है, जिसके अधीन ग्रामीण–जीवन की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवस्था होती है। दूसरे समूह में, आर्थिक रूप से कमजोर खेतिहर मजदूर, दिहाड़ी मजदूर, नाई, लुहार, बढई आदि आते हैं।'[11] 'ग्रामीण और कस्बाई जीवन की संरचना में ग्रामीण खेतिहर और दिहाड़ी मजदूरों का समूह गाँव की सम्पूर्ण व्यवस्था में सर्वाधिक निचली श्रेणी के माने जाते हैं। इनका जीवन दासों की तरह होता है तथा न्यूनतम मजदूरी अथवा भरपेट भोजन के आधार पर सामंतों, जमींदारों अथवा मालिकों के घरों, खेतों, ठेकेदारों के गाँव से दूर ऊँची–ऊँची पहाड़ियों के मध्य, जंगलों में काम करने के लिए ये विवश होते हैं। इसके बावजूद इनकी आमदनी इतनी अधिक नहीं होती है कि दो जून ये भरपेट भोज कर सके। इसी स्थिति में जब इनके घर का कोई सदस्य बीमार पड़ता है अथवा कोई ऐसी जरूरत आ पड़ती है, जिसका सीधा संबंध 'धन' से होता है तो यह कर्ज लेने के लिए विवश हो जाते हैं। कर्ज प्राप्त करने की यह विवशता उनके अतंर्मन को तोड़कर रख देती है, क्योंकि इन्हें इस बात का अहसास होता है कि कर्ज के वे जिस भंवरजाल में फंस रहे हैं, उससे मुक्ति अब संभव नहीं है। यही कारण है कि कर्ज नहीं चुका पाने की स्थिति में इन्हीं खेतिहर और दिहाड़ी मजदूरों का एक बड़ा हिस्सा बंधुआ मजूदर बनने को विवश हो जाता है।'[12] देवेन्द्र चौबे का मानना है कि 'खेतिहर मजदूरों पर केन्द्रित कहानियाँ हमारे सामने मुख्यतः दो प्रकार की समस्याएँ रखती हैं– 'जमीन की समस्याएँ और गाँव के प्रभु वर्ग द्वारा खेतिहर मजदूरों के मौलिक अधिकारों के हनन की समस्याएँ। जमीन की समस्या वहाँ आती है जहाँ वे अपने मालिक द्वारा प्रदान किए हुए जोत के एक टुकड़े में खेती करते हैं तथा विपरीत परिस्थितियों में इन्हें जमीन से बेदखल करके एक ही झटके में सब कुछ समाप्त कर दिया जाता है।'[13] इससे दो बाते स्पष्ट होती हैं, एक तो मजदूरों के पास जमीन और खेती की कमी है, तो दूसरा उन्हें श्रम का उचित मूल्य नहीं मिलता और गरीबी के कारण इनकी

स्थिति दयनीय बन जाती है। इसका एक अन्य महत्वपूर्ण कारण ग्रामीण समाज में संयुक्त परिवार का विखण्डन भी माना जा सकता है। कृषि व्यवस्था में संयुक्त परिवार की संरचना की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही है। संयुक्त परिवार के कारण कृषि कार्य को करने पूंजीगत संसाधान भी जरूरत के लायक उपलब्ध होते थे। 20वीं शताब्दी के सातवें, आठवें, नवें और अंतिम दशकों के दौरान भारत में पूंजीवादी व्यवस्था का दबाव बढ़ता गया, जिसके चलते मनुष्य के पारिवारिक और सामाजिक रिश्तों और संबंधों में टूटन की स्थिति पैदा होने लगी। परिवार के विखण्डन के कारण पूंजीगत संसाधानों का विखण्डन हुआ और व्यक्ति को पूंजीगत संसाधानों का बहुत छोटा हिस्सा मिला, जिससे कृषि कार्य के लिए 'पूंजीगत संसाधानों के अभाव का सामना करना पड़ा। इस अभाव के कारण छोटे किसानों के लिए कृषि कार्य अनार्थिक होने लगे और छोटे किसान मजदूर में रूपांतरित होने लगे और मजदूरी की तलाश में महानगरों की ओर पलायन करने लगे।'[14] समकालीन कहानीकार अपनी कहानियों में ग्रामीण मजदूरों की जीवन व्यथा–कथा का चित्रण गहरी मार्मिकता के साथ करते हैं। ये कहानियाँ गाँव की जिंदगी से हमारा परिचय कराती हुई वहाँ की शोषणकारी व्यवस्था पर मार्मिक व्यंग्य करती हैं।

समकालीन कहानीकारों की कहानियों का एक बड़ा हिस्सा ऐसे लोगों पर केंद्रित दिखायी देता है, जो दिहाड़ी मजदूरी करके अपना जीवनयापन करने के लिए विवश होते हैं। ये वही मजदूर होते हैं जो कृषि–संबंधी संघर्ष अथवा गाँव में खेती का काम न मिलने के कारण कस्बे अथवा शहर में आते हैं तथा वहाँ आकार रोजाना तय की हुई मजदूरी पर काम करने लगते हैं। कभी–कभी तो इन्हें रोजाना के हिसाब से तय की हुई मजदूरी भी नहीं मिलती है। मिथिलेश्वर की 'मेघना का निर्णय', विजेन्द्र अनिल की 'हल', उदय प्रकाश की 'टेपचू', सुरेश कांटक की 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', ह्रदेयश की 'मजदूर' आदि हमें जीवन के इस सत्य से परिचित कराती है कि इन मजदूरों को आर्थिक मोर्चे पर लड़ने के साथ–साथ, सामाजिक मोर्चे पर भी एक अन्य लड़ाई समानांतर लड़नी पड़ती है। इन खेतिहर और दिहाड़ी मजदूरों के जीवन में आया दुःख का यह क्षण, जो इन्हें बार–बार तोड़ता है, इस सत्य को हमारे सामने रखता है कि जितनी सरल इनकी जिंदगी

दिखती है, उतनी होती नहीं है। चाहे वह घर हो अथवा समाज। जीवन के हर मोर्चे पर बिना किसी सहारे के इन्हें अकेले ही बार–बार लड़ना पड़ता है। मिथिलेश्वर ने अपनी कहानी 'बन्द रास्तों के बीच' में जगेसर नामक एक खेतिहर मजदूर के जीवन–संघर्ष का चित्रण करते हुए उस पर मालिक द्वारा किये जाने वाले अविश्वास और भूख की समस्या का चित्रण मार्मिकता के साथ किया है। जगेसर बिना किसी लालच के दिन–रात अपने मालिक के खेतों की रखवाली करता है, उनको संवारने के लिए कड़ी मेहनत करता है, फिर भी वह भरपेट भोजन नहीं कर पाता है। लेकिन उसके मालिक का व्यवहार उसके लिए कठोर ही रहता है, ''अब रात भी अपनी नहीं होती है। दिन–भर मालिक का काम करो और रात में उनके खलिहान में सो ओ। ..मालिक आराम की जिन्दगी गुजारेंगे। गालियों से बात करेंगे। और बदले में उस जैसे बनिहारों को सिर्फ जीने–भर के लिए खाने का इन्तजाम कर देंगे। ताकि अगले साल तक वह मरने न पाये और फनः फसल उगाकर चोरों से उसकी रक्षा कर, उनके घर पहुँचा दे। बनिहारों की वह यातनापूर्ण जिंदगी अन्त तक नहीं बदलती है।''[15] इन पंक्तियों से स्पष्ट होता है कि खेतिहर मजदूर की जीवन व्यथा कितनी दयनीय है। उनकी दुखों का अन्त दिखाई ही नहीं पड़ता।

दिहाड़ी मजदूरों की स्थिति खेतिहर मजदूरों की तरह बेहतर नहीं है। ठेकेदार उनकी तय मजदूरी से भी अपना मुनाफा कमाने की सोचता है। अपना मेहनताना पाने के लिए दिहाड़ी मजदूर तरस जाते हैं। साथ ही दलालों के द्वारा भी इनका शोषण होता रहता है। इन मजदूरों की कमाई में से भी दलाल अपना लाभ ही देखता है, मिथिलेश्वर की 'मेघना का निर्णय' कहानी में हेड मिस्त्री मजदूरों से दिन–रात काम करवाते हैं और उनको सही मजदूरी भी नहीं मिलती है– ''हेड मिस्त्री कभी किसी मजदूर की पूरी मजदूरी चुकता नहीं करता था। हर मजदूर की दो या तीन दिन की मजदूरी वह बराबर अपनी मुट्ठी में रखता था, ताकि कोई मजदूर भागने न पाये।''[16] यही स्थिति शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'अन्धकूप' में भी दिखाई देता है, ''मालिक, मेरी मजदूरी मिल जाती है' 'मजदूरी! 'ठाकुर बोले', जैसे हम गाँव छोड़कर भागे जार रहे हैं। अरे भाई दस–पन्द्रह रोज की तो बात है। जहाँ बुआई खतम हुई नहीं कि तुम्हारा हिसाब।''[17] यहाँ कहानी का नायक मँगरू हल

बनाने का काम करता है। घर की आर्थिक स्थिति ठीक नहीं चल रही है। दो जून की रोटी भी मुश्किल से मिल रही थी। इसीलिए मगरूँ ठाकुर से अपनी बची हुई मजदूरी माँगता है। कहानीकार यहाँ स्पष्ट करते है कि दिन–रात कड़ी मेहनत करने के बाद भी ये एक अव्यवस्थित जिंदगी व्यतीत करने के लिए विवश होते हैं।

समकालीन कहानीकारों ने ग्रामीण मजदूरों की समस्या को कई तरीके से उठाया हैं। आर्थिक दुरव्यवस्था ने उन्हें अपने परम्परागत गाँव छोड़ने पर मजबूर कर दिया है। मिथिलेश्वर की 'मेघना का निर्णय' इसी समस्या पर आधारित है। पटना की बाढ़ ने गाँव को तबाह कर दिया था। गाँव के मजदूर शहर की ओर पलायन करने को मजबूर हो गये थे, ''पटना की बाढ़ ने उसके गाँव में इतने मजदूरों को भर दिया कि सबों को काम मिलना मुश्किल हो गया। ..... तभी से मेघना के गाँव के मजदूरों का एक झुण्ड शहर की ओर जाने लगा है।''[18] कहानी का नायक मेघना शहर जाकर मिस्त्री का काम करने लगा। लेकिन वहाँ मेघना और उसके मजदूर साथी हेड मिस्त्री के द्वारा सताये जाने लगे। हेड मिस्त्री मजदूरों को कभी पूरी मजदूरी नहीं देता था, ताकि कोई मजदूर काम छोड़कर भागने ना पाये, ''हेड मिस्त्री मजदूरों का हमदर्द नहीं, बल्कि दुश्मन है। वह मजदूरों का खून चूसने वाला है। मकान मालिक, मजदूर और मिस्त्री को काफी पैसे देते हैं।..... जिन मजदूरों के चलते उसे इतने रूपये मिलते हैं, उन मजदूरों की मजदूरी में से भी वह एक रूपया काट लेते हैं। और सबकुछ जानते हुए भी मजदूर कुछ नहीं बोलते हैं।''[19] इसी प्रकार मिथिलेश्वर के एक अन्य कहानी 'बीजारोपण' में धरीछन और उसकी गर्भवती पत्नी के विषय में बताते हुए चर्चा करते हैं, ''यह उसके भाग्य की सबसे बड़ी विंडबना थी कि पत्नी के गर्भकाल में उसके इलाके की फसलें सूखे की चपेट में आ गई।..... उसे काम मिलना बंद हो गया।.... लेकिन धरीछन की तरह जो स्वतंत्र मजदूर थे, उनका गाँव में रहना मुश्किल हो गया। वे छुट–फट शहर की ओर भागने लगे। ..... अंत में अपने गाँव से दो मील की दूरी पर, जहाँ नहर खोदने का काम हो रहा था..... वह पत्नी के साथ तड़के ही चला जाता। ..... धरीछन और उसकी पत्नी मज़दूरी से पेट भर खा भी नही पा रहे थे।''[20] कहानी का नायक धरीछन अपनी गर्भवती पत्नी का ध्यान बहुत अच्छे से रखना चाहता था। आर्थिक

तंगी ने उसकी इस मुश्किल को और बढ़ा दिया था। उस वर्ष फसलें सूखें की चपेट में आ गई थी। गाँव के अधिकतर मजदूर काम की तलाश में शहर की ओर जाने लगे। लेकिन धरीछन अपनी पत्नी को इस हालात में छोड़कर नहीं जा सकता था। फिर भी उसे गाँव से दो मील दूर नहर खोदने जाना पड़ता, लेकिन वहाँ पर मजदूरी बहुत कम थी। उसके अलावा दूसरा कोई उपाय नहीं था। यहाँ दिहाड़ी मजदूर जिस मार्मिकता के साथ अपने मनोभावों को व्यक्त करती है, उसे देखकर यही लगता है कि बंजारों की तरह जिंदगी जीना इनकी विवशता होती है।

दिन–रात कड़ी मेहनत के बावजूद भी मजदूरों को उनका पारिश्रमिक नहीं मिल पाता। कभी–कभी उन्हें खाने–पीने, बीमारी के लिए मालिको से कर्ज भी लेना पड़ जाता है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'पापजीवी' का पात्र बदलू ठीकदार साहब के जंगल में लकड़ी चीरने का काम करता है। उसकी लड़की बहुत बीमार है। वह ठीकदार से कुछ रूपये उधार मांगता है, लेकिन ठीकदार उसे बेइज्जत करके काम से निकाल देता है। उसे उसकी पूरी मजूरी देने से भी इनकार कर देता है, ''ठीकदार साहब!'..... 'मेरी लड़की बहुत बीमार है, मरी जात है, हमें दो ठो रूपिया दे दो, मरकर मेहनत करके हम आपका सब चुका देंगे।.... अरे वाह, मजाक करता है क्या भाई, अभी दिन हुए? पिछले सतवार की पूरी–पूरी मजूरी बँटी थी, फिर मजूरी? यह कोई लंगर खुला है कि तुम्हे रोज राशन बाँटा करें।..... 'हमारी तीन दिन की बारह आना तो दिला दो ठीकेदार साब!' ..... 'जरा जल्दी करो बाबू, नहीं मरे पीछे ही मिला तो लेकर क्या करेंगे?''[21] बदलू की समस्या यहीं नहीं खत्म होती है। अपने ही मजदूरी के पैसे मांगने के कारण उसे ठीकदार के अत्याचार का भी सामना करना पड़ता है। वह उसे लकड़ी चोरी करने का इल्जाम लगाकर मारता और पीटता भी है, ''चोर साला!' ठीकेदार होश में आ गये थे, आदमियों को देखकर उनका भय दूर हो गया था– बाँच लो साले को!'..... लाठियों की मार से उसका शरीर फट गया था, पर वह चुपचाप जमीन में मुँह गाड़े बैठा रहा। जो भी आता, दो लात, दो जूते मार देता।''[22] यहाँ इन पंक्तियों से साफ स्पष्ट है कि मालिकों द्वारा शोषण किस हद तक किया जा रहा है, जहाँ से बाहर निकलना भी इनके लिए आसान नहीं है।

संजीव की कहानी 'तिरबेनी का तड़बन्ना' भी मजदूरों की आर्थिक बदहाली को बयान करते हैं। तिरबेनी मेहनती और कर्मठ होने के बावजूद अपनी जातीय और आर्थिक विवशता के कारण पूरे ग्रामीण समाज का 'टहलुआ' बना हुआ है, जबकि उसका चरित्र बार–बार उसके इस व्यक्तित्व को तोड़ता है। गाँव के ठाकुर चन्ना सिंह के यहाँ काम करते हुए उसे इस बात का अहसास हो जाता है कि वह मालिक की चाहे जितनी सेवा कर ले, उसे ताड़ी उतारने का अधिकार नहीं देने वाले हैं। जबकि पूरा गाँव इस सत्य से परिचित है कि तड़बन्ना ग्राम–पंचायत की जमीन पर है तथा गाँव का हर आदमी उसका मालिक है। लेकिन गाँव के ठाकुर चन्ना सिंह इस सत्य को नकारते हुए तिरबेनी को ताड़ी न उतारने की बार–बार धमकी देते हैं। उसकी पत्नी को पायल देकर फांसने की कोशिश करते हैं।'[23] लेकिन तिरबेनी और उसकी पत्नी का इन बातों पर कोई असर नहीं होता है। उनकी आर्थिक विवशता बार–बार उनके जीवनयापन में अवरोध खड़ा करती है, किन्तु 'कटिया, बिनिया, बोआयी, भीत–भितिहर, जांत– पहरूआ गरज कि हर तरह की मजदूरी का वह दोनों जून चूल्हा बरती रही।'[24] ग्रामीण समाज की जो संरचना है, उसके अंदर खेतिहर मजदूरों की स्थिति दो कारणों से बदतर है– निचली जाति के होने के कारण पूरा ग्रामीण समाज उन्हें हेय दृष्टि से देखता है और आर्थिक विवशता उन्हें हर स्तर पर समझौता करने के लिए बाध्य कर देती है।

सरकार द्वारा ग्रामीण मजदूरों के सुधार के लिये योजनाएँ बनाई गई। इनकी मजदूरी को भी तय किया गया, लेकिन सरकारी परियोजनाएँ ठेकेदारों द्वारा ही की जाती है। अंतः ठेकेदार ही होते हैं, जो मजदूरों के अधिकारों का हनन करते हैं। इसी स्थिति को सुरेश कांटक ने कहानी 'लालबत्ती' में दिखाया है, जहाँ सुपरवाइजर दिनेश ठेकेदार के नौकर से सरकारी परियोजना तथा उससे जुड़े ठेकेदारो के विषय में कहता है– ''परियोजना तो यू.पी. सरकार की है, यह सच है, किन्तु उसका निर्माण ठेकेदारों द्वारा ही हो रहा है।... सरकार मजदूर बहाल करना नहीं चाहती। वरना कुछ राहत मिलती। ये ठेकेदार मजूरों की चमड़ी नोच लेते हैं।''[25] यह स्पष्ट है कि सरकारी योजनाओं के द्वारा मजदूरों के हित में दिए गए अधिकारों का हनन इन मालिको द्वारा होता है। यदि सरकार इनके पक्ष में कोई कदम उठाती है तो

सरकार के ये दलाल उन गरीब मजदूरों तक कुछ पहुंचने ही नहीं देना चाहते है। इसका प्रमुख कारण धन का संचय है, जोकि इन वर्गों द्वारा किया जाता है। इनके अलावा पुलिस प्रशासन भी इन्हीं के पक्ष में दिखाई देता है। पैसे का लालच देकर ठेकेदारों द्वारा इन्हें भी खरीद लिया जाता है– ''पूरे थाना गुण्डा और पुलिस वाले शामिल होते हैं, उस ऐश में, उनके बीच उसकी धाक जमती है, पूरा साइट पहचानता है उसे''[26] यहाँ पुलिस और प्रशासन की गरीब मजदूरों के प्रति दमनात्मक व्यवहार दिखाई देता है। इन्हें अपने समाज के लोग तो परेशान करते ही हैं पुलिस भी इनके लिए जीवन के हर मोड़ पर एक नयी समस्या खड़ी करती है। अस्तित्व रक्षा का संकट हमेशा इन्हें भयभीत और आंतकित किये रहता है। वे अपनी समस्याओं की मुक्ति के लिए जिस संघर्ष को शुरू करते हैं, वह आज भी जारी है।

3.3 गाँव में वर्चस्व की संस्कृति एवं कृषि संबंधी संघर्ष

प्रेमचंद ने 'गोदान' में जमींदारों के वर्चस्व की चर्चा करते हुए अपने पात्र होरी से कहलवाया है– 'यह इसी मिलते–जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है, नहीं कहीं पता न लगता कि किधर गए। गाँव में इतने आदमी हैं, किस पर बेदखली नहीं आयी, किस पर कुड़की नहीं आयी? जब दूसरे के पांवों तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पांवों को सहलाने में ही कुशल है।'[27] पर न तो अब प्रेमचंद के वह राय साहब रहे न जमींदारी प्रथा, पर आज भी गाँवों में वर्चस्व की एक अघोषित संस्कृति विद्यमान है। आज उसका काम जाति व्यवस्था तथा सामंती प्रवृत्ति कर रही है और सरकारी तंत्र इस पर मूक बनकर देख रहा है। इसी कारण से मजदूर और किसान खेती संबंधी संघर्ष के लिए बाध्य है। मजदूर–किसानों के इन्हीं संघर्षों को समकालीन कहानीकारों की कहानियों में देखा जा सकता है। इनमें प्रमुख कहानियाँ हैं– विस्फोट (विजयेन्द्र अनिल), मेरे गाँव के लोग (मधुकर सिंह), कामरेड का कोट (सृंजय), बीच का समर (विजयकांत), मेघना का निर्णय (मिथिलेश्वर), धनपत का बैल (सुरेश कांटक), पुण्यात्मा (कमलकांत त्रिपाठी), बच्चे बड़े हो रहे हैं (मदन मोहन), तिरबेनी का तड़बन्ना (संजीव), प्रहरी (विक्रमजन बंधु) आदि।

भारत में खेतिहर मजदूरों और किसानों की आर्थिक स्थिति दयनीय है। फिर भी सत्तासीन लोग यह दावा करते हैं कि देश का आर्थिक विकास हो रहा है, देश आर्थिक महाशक्ति बन रहा है। इनकी नजर में देश की आबादी का करीब स्तर प्रतिशत जो किसानी करते हैं, कहीं नहीं है। देश महज अरबपतियों की जागीर है, इनके विकास का मतलब ही देश का विकास करना है। योगेन्द्र यादव अपने एक लेख में किसानों की स्थिति पर चिंता व्यक्त करते हुए लिखते हैं, 'सवाल है कि भविष्य के भारत के नक्शे में किसान के लिए क्या जगह होगी। इंडिया का सपना देखने वाले के नक्शे में तो किसान के लिए कोई जगह नहीं है। उस मॉडल में देश का हर किसान दिहाड़ी मजदूर बनेगा। शायद सौ साल बाद उसे किसी म्यूजियम में जगह मिलेगी। इसलिए सवाल है कि देश की विकास योजनाओं में कृषि की क्या जगह है?'[28] जिस देश में देश की बड़ी आबादी की आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय होगी वहाँ असंतोष तो फैलेगा ही। हमारे यहाँ ग्रामीण असंतोष, संघर्ष एवं विद्रोह की लंबी दास्तान रही है जो इन खेतिहर मजदूरों एवं सीमांत प्रतिपक्ष में थे और ये लड़ाइयाँ स्वतंत्रता संघर्ष के रूप में नहीं देखा जा सकता है। ग्रामीण समुदाय में असंतोष के अन्य कारण भी रहे हैं मसलन जातीय भेदभाव, उचित मजदूरी अथवा न्यूनतम मजदूरी का न मिलना, सामंती प्रवृति एवं शोषण, उच्च एवं निम्नवर्ग का भेद, रोजगार की कमी, कुटीर उद्योगों, चीनी मिलो का बंद होना, भूण्डलीकरण के बाद मशीनों के आ जाने के बाद मजदूरों का हाशिये पर जाना, ऋणग्रस्तता, गरीबी आदि।

मिथिलेश्वर की कहानी 'मेघना का निर्णय' खेतिहर और दिहाड़ी मजदूरों की स्थिति और संघर्ष को व्यक्त करती है। कहानी का पात्र मेघना हेड मिस्त्री से उचित मजदूरी की मांग करते हैं, लेकिन हमेशा की तरह हेड मिस्त्री से उचित मजदूरी दबा लेने की कोशिश करता है। मेघना और उसके साथी मजदूर वहाँ से काम छोड़कर रेल बाबू के यहाँ काम करने लग जाते हैं। वहाँ भी वैसे ही स्थिति बन जाती है। लेकिन इस बार मेघना अपने हक के लिए आवाज उठाता है, ''मेघना जगुआ के साथ वहाँ से लौट चला। लौटते हुए उसने अपनी दहाड़ रेल बाबू को सुना दी– 'हम भीख नहीं माँग रहे हैं। जब काम करने की शक्ति हमारी भुजाओं में

है, तो मजदूरी वसुल करने की शक्ति भी है। हम आपसे पाई–पाई वसूल कर लेंगे।''[29] यहाँ स्पष्ट है कि ठेकेदारों द्वारा मजदूरों पर किस प्रकार दमनात्मक व्यवहार किया जाता रहा है, लेकिन अब वे सजग हो उठे हैं। आवाज उठाने लगे हैं। लेकिन किसी– न– किसी प्रकार उन्हें डराने का प्रयास किया जाता रहा है। पुलिस या जेल जाने की धमकी दी जाती रहती है, ''जाओ–जाओ, तुम्हारे जैसे सैकड़ों मजदूरों को मैं रोज चराता हूँ। उल्टा–सीधा बकने की कोशिश करोगे तो सीधे अन्दर भिजवा दूँगा।''[30] यहाँ कहानीकार ने दिखलाया है कि रेल बाबू के कहने पर किस प्रकार गाँव के भू–पति मेघना और उसके साथियों को डाँटते–फटकारते हैं, जबकि उनकी गलती मात्र इतनी है कि वे रेल बाबू से अपनी वाजिब मजदूरी की मांग करते हैं। उसके डांटने का लहजा भी इतना अपमानजनक है कि उसे देखकर यही लगता है कि ग्रामीण जीवन की संरचना में इन खेतिहर मजदूरों की स्थिति सबसे अधिक खराब है तथा उनके जीवन के सारे महत्वपूर्ण निर्णय दूसरे लोग लेते हैं। ये निर्णय इनके लिए इतने अधिक अपमानजनक होते हैं कि उसके बाद इनके सामने केवल एक ही रास्ता बचता है या तो गुलामों की तरह जीवन व्यतीत करें अथवा अपनी वर्तमान स्थिति और व्यवस्था से विद्रोह।

भारत में गरीबी और शोषण के खिलाफ संघर्ष ने नक्सलवादी आंदोलन का सूत्रपात किया था। नक्सलबाड़ी से शुरू हुआ यह आंदोलन देश के लगभग हर क्षेत्र में पहुँच गया। इस आंदोलन से समाज का बुद्धिजीवी वर्ग, छात्र, किसान मजदूर सभी जुड़ते चले गए। मधुकर सिंह की कहानी 'हरिजन सेवक' खेतिहर मजदूर और दलितों की स्थिति और संघर्ष को व्यक्त करती है। इस कहानी में नायक अन्य मजदूरों के साथ जमीदांरों द्वारा उचित मजदूरी न दिए जाने का विरोध करता है– ''हमने तय कर लिया है, जब तक हमें रोजाना तीन सेर चावल नहीं मिलता तब तक हम उनके यहाँ कोई काम नहीं करेंगे। मालिकों को विश्वास था कि दो तीन दिनों में जब हम भूख से बिलबिलाने लगेंगे तब हमारा मिजाज खुद ही ठिकाने आ जाएगा। मगर हमारा भी निश्चय था कि हम शहर जाकर मेहनत मजदूरी करेंगे, परन्तु मालिकों के सामने कभी हाथ नहीं पसारेंगे।''[31] यहाँ भी अन्याय व शोषण के खिलाफ मजदूर आवाज उठाते हैं, किन्तु पुलिस और जमींदारों के सांठ–गांठ से

इन्हें नक्सली करार दिया जाता है एवं इनकी झोपड़ियाँ जला दी जाती है, जिनमें कई लोग जलकर राख हो जाते हैं। गाँव के दलित मजदूर नक्सली करार दिए जाने के कारण पुलिस द्वारा पकड़े जाते हैं एवं इस घटना के दोषी भी बनाये जाते हैं। खेत मालिकों की मंशा पूरी होती है। मुखिया कहता है– ''कहना यही है हजुर कि हमें लुटेरों से बचाइए। आग इन्होंने हमारी तरफ लगायी थी, परन्तु प्रभु की माया देखिये आग भी उलट गई और गुण्डों का सत्यानाश कर दिया। पुलिस कहती है– सरकार हर तरफ से आप लोगों के साथ है।''[32] इस कहानी से स्पष्ट होता है, कि जब कभी खेतिहर मजदूर अपनी मजदूरी की बात करते हैं एवं आवाज उठाना चाहते हैं, उन्हें किसी न किसी तरह फंसाकर जेल भेज दिया जाता है या खत्म कर दिया जाता है एवं पुलिस इसमें सहायक सिद्ध होती है। ऐसे में न्याय की आस किससे की जाए, यह महत्वपूर्ण प्रश्न हमारे सामने उठ खड़ा होता है। ऐसा मानना अनुचित न होगा कि हथियार उठाना इन मजदूरों के पास अंतिम विकल्प होता है।

'कामरेड का कोट' कहानी में सृंजय ने खेतिहर मजदूरों के संघर्ष एवं मार्क्सवादी पार्टी की स्थिति बताते हैं। इस कहानी की इन पंक्तियों को देखें, ''कामरेड! दुस्साहस अगर किसी ने किया है तो गरीब मजदूरों की भूख ने। खेत लूटने को किसी ने उकसाया है तो मजदूरों के खाली पेट ने। पेट भरा हो तो धैर्य रखा जा सकता है। लेकिन भूखे पेट को धर्म कहाँ?''[33] कहानी में खेतिहर मजदूर अन्याय और भूख से तंग आकर खेती लूटने का दुस्साहस करते हैं। इन मजदूरों के नेता कमलाकांत जी हैं जिनकी प्रेरणा से ये सब कुछ होता है। कमलाकांत जी संघर्ष को जमीनी रूप देना चाहते हैं, भूस्वामियों के अन्याय का बदला हत्यार से लेना चाहते हैं, किन्तु पार्टी उनकी बात को नजरअंदाज कर देती है और 'प्री– मेच्योर स्टेप' कहती है। इस कहानी में कहानीकार ने पार्टी के भीतर द्वंद्व को दिखाना चाहा है। जहाँ जमीन से जुड़े कार्यकर्त्ता अपने प्रति हो रहे अन्याय का बदला लेना चाह रहे हैं, वहीं पार्टी के शीर्ष नेता इसकी इजाजत नहीं देते। उल्टे कमलाकांत जी का मजाक उड़ाया जाता है। पार्टी के अन्य नेता पार्टी मीटिंग में भोजन का भरपूर लुत्फ उठाते हैं। उनकी भाषा, उनका शोधकार्य सभी मुक्तभोगी मजदूरों और खेतिहर किसानों को इंसाफ नहीं दिला सकते। प्रश्न है, क्रांति किस

रास्ते आएगी? संसदीय लोकतंत्र में भाग लेकर या सशस्त्र संघर्ष से, जैसा नक्सली करते हैं? पार्टी के नेता रक्तध्वज जी इसी बात को इस रूप में व्यक्त करते हैं, ''साम्यवादी क्रांति के पहले जनवादी पड़ाव को पार करना होगा, कामरेड उपाद्याय! आप बुनियादी बूल कर रहे हैं। इसके लिए जनता को इसी जनतंत्र में भागीदारी लेनी होगी। चुनने और मत व्यक्त करने की आजादी जो मिली हुई है। उसे वी चीड़ देने पर तो वर्ग शत्रुओं को अदर सुविदा हो जाएगी।''[34] कहानीकार ने इन पंक्तियों में स्पष्ट रूप से मजदूरों और किसानों के संघर्ष के बीच आने वाले द्वंद्व को दिखाने की कोशिश की है। पर मजदूर क्या करें जो मजदूरी की मांग करने पर मार दिए जाते हैं, जैसा कि कहानी में दिखाया गया है– ''मेरे गाँव में चार खेतिहर मजदूरों की हत्या कर दी गई है। हमारे गाँव में एक भूमिपति है बाबू जगत नारायण सिंह 'ढाई तीन सौ बीघे की काश्तकारी है उनकी। न्यूनतम मजदूरी को लेकर विवाद चल रहा था। इसी में उन्होंने हमारे दल के चार मजदूरों की हत्या करवा कर उनकी लाश पेड़ पर टंगवा दी।''[35] ग्रामीण कार्यकर्त्ता कामरेड कमलाकांत उपाध्याय की व्यथा इन पंक्तियों के माध्यम से उभरकर सामने आती है। वस्तुतः यह जटिल प्रश्न आज भी बना हुआ है।

'विजेन्द्र अनिल की 'विस्फोट' और विजयकांत की 'बीच का समर' में मजदूरी तथा कृषि– संबंधी संघर्ष की तैयारी चल रही है, लेकिन इस तैयारी में सबसे बड़ी दिक्कत है कथानायक का खुलकर सामने न आना। 'विस्फोट' के नायक रमुआ की सबसे बड़ी परेशानी, रामसरन उपाध्याय जैसे समृद्ध किसान है, जो उसके रेहन पड़े खेत को छोड़ना नहीं चाहते हैं,'[36] जबकि सरकार की तरफ से यह नया कानून बन गया है कि सात वर्ष तक रेहन पड़ी जमीन, उसके असली मालिक को लौटा दी जाएगी। रमुआ लाख विनती करता है, परन्तु रामसरन उपाध्याय उसे उसके खेत लौटाने से साफ इनकार कर देता है। वामपंथी पार्टी का सक्रिय कार्यकर्ता कवलेसर, जब रमुआ से बार–बार कहता है कि वह खुलकर रामसरन उपाध्याय के सामने आ जाए तो वह और उसके साथी आगे बढ़कर रामसरन उपाध्याय से जमीन छीन लेंगे। कारण, वह महसूस करता है कि जब तक रमुआ खुलकर उनका विरोध नहीं करेगा, तब तक न तो उसकी जमीन मिल पाएगी और न ही प्रतिष्ठा। कवलेसर

अपने जैसे लोगों की कमजोरी बताते हुए साफ कहता है कि– ''हमलोग अभी कमजोर हैं, इसलिए कि अलग–अलग खड़े हैं। उपधेया तागतवाला आदमी है। उसके इशारे पर कोर्ट–कचहरी, जज, बलिस्टर और कोतवाल सब नाचते हैं..... फिर भी हमें उससे लड़ना है। उसकी कमर तोड़नी है।''[37] यहाँ कवलेसर इस बात की ओर संकेत करना चाहता है कि गांव के खेतिहर मजदूर और जोत वाले किसान तब तक अपना अधिकार प्राप्त नहीं कर पायेंगे, जब तक कि वे अलग–अलग है। बिना एकता के जनसंघर्षों को जीता नहीं जा सकता है और न ही भू–पतियों के खिलाफ कोई लम्बी लड़ाई लड़ी जा सकती है।

विजयकांत की कहानी 'बीच का समर' का नायक बैजनाथ साहनी, ठकुराइन पार्वती सिंह की गुलामी से मुक्त होकर खेतिहर मजदूरों की टोली में आकर शामिल हो जाता है, तब उस संघर्ष को एक बल और दिशा मिल जाती है, ''उसकी ताकत है यह जमीन। इसी दौलत पर दांत गड़े है इसके। इसे खींच लो। अपना हक आगे करो और सारी फसल काट लो।''[38] ठाकुराइन पार्वती सिंह का फसल काटना इस लड़ाई का अंत नहीं, बल्कि शुरूआत है। क्योंकि जब तक बैजनाथ सहानी ठकुराइन की सेवा में रहता है, वह स्वतंत्र होकर न तो अपने विकास के विषय में सोच पाता है और न ही अपने परिवार। अपने समाज के विषय में सोचना तो दूर की बात है। लेकिन ज्योंहि उसके बच्चों पर आंच आती है, वह सजग हो जाता है तथा अपने समूह के साथियों से आ मिलता है।

मदन मोहन की 'बच्चे बड़े हो रहे हैं', और चन्द्रमोहन प्रधान की 'ऐहि नगरिया केहि विध रहना' दोनों कहानियाँ नरसंहार के बाद की वीभत्स स्थिति का दर्दनाक चित्रण करती है। 'ऐहि नगरिया केहि विध रहना' का मिडिल पास लड़का सोनलाल इमली के पेड़ पर छिपकर, ठाकुरों द्वारा किये जा रहे नरसंहार के दौरान अपनी जान बचाता है तथा इस नरसंहार के 'क्रूर' खेल की जानकारी पुलिस अधिकारी को देता है, ''परसों रात में सब लोग सोये पड़े थे कि बहुत आदमी तीन जीप, एक ट्रक लेकर आया। गैस, बत्ती, टार्च, बंदूक.... हीरा बाबू साथ में थे, गांव को सबने घेर लिया.... सब घरों में आग लगा दिया.....' वह फिर लड़खड़ाया, 'लोग

सब भागे तो.... गोली चलने लगी..... सैकड़ों लोग मारे दिये.... मेरा..... मेरा.... 'उसका स्वर टूटा।

'तुम्हारा भी घर जल गया?'

'जी राख कर दिया.... मेरा... मेरा.... दादा... बाप.... मां

एक भाई, दो बहन..... ' वह फिर फूट पड़ा।

'हूँ, कौन लोग थे, जिन्होंने यह सब किया?'

'महुली के बाबू साहिब।''[39]

यहाँ स्पष्ट है कि एक खेतिहर मजदूर के पुत्र सोनालाल और पुलिस के डी. आई.जी. के बची का है, जो खेतिहर मजदूरों के एक गाँव में हुए नरसंहार की दर्दनाक तस्वीर को हमारे सामने रखता है। ये पंक्तियाँ यह भी बतलाती है कि इस नरंसहार के जिम्मेदार लोग कौन हैं? बावजूद इसके पुलिस और प्रशासन के लोग कुछ कर नहीं पाते है। मदन मोहन की कहानी 'बच्चे बड़े हो रहे हैं' की मुख्य समस्या जमीन ही है। वह जमीन, जहाँ इन दलित और खेतिहर मजदूरों के बच्चे खेलते हैं, जहाँ उनके लिए थोड़ा–सा अन्न उपजता है और जिसे छीनकर ठाकुर अपनी जमीन में मिला लेना चाहता है। गाँव में हो रहे कृषि–संबंधी संघर्ष का कारण भी यह जमीन है, जिसमें ये खेतिहर मजदूर या तो काम करते है अथवा जोत के एक छोटे–से टुकड़े के सहारे पूरे साल अपना तथा अपने परिवार का खर्चा चलाने को विवश होते हैं, ''मां हड़बड़ाकर उठी तो इतनी रात भकोल को जगाते देख सन्न रह गयी! गुदड़ी सत्ती के ऊपर फेंक खाट पर बैठ गयी, बेटे के माथ पर हाथ रखा तो उसने मां की हथेली अपने हाथों में कस ली। बोला, 'सत्ती के गबने मां खर्चा होई?'

'हाँ, हाँ तो....!'

'दादा को जेहल से छोड़येगी?'

'हमकू एक ठो बनुखिया ले दे माई।''[40]

यह पंक्तियाँ शोषित और दलित खेतिहर मजदूरों के उस आक्रोश की ओर संकेत करता है, जो आनेवाली अबोध पीढ़ी की आँखों में है। भकोल का पूरा परिवार आर्थिक विषमता से गुजरने लगता है। भकोल की माँ सोच नहीं पाती है कि क्या करें?

सुरेश कांटक की 'तीसरा तांडव' कहानी में भी गाँव के लोगों पर किये जा रहे अत्याचार को उठाया है और दिखलाया है कि गाँव के कुछ लोगों के कारण ही भूपतियों के खिलाफ चलाया जा रहा संघर्ष नाकाम हो जाता है। गाँव का एक बनिहार खेदूराम गाँव के लोगों का साथ न देकर प्रभुवर्गों का साथ देता है, जोकि उनके संघर्ष के मार्ग को अवरूद्ध करने लगता है, ''खेदु भाई तुम सीचरन की बनिहारी छोड़ दो। हत्यारों का साथ मत दो भइया। तुम्हारे कारण हमारा लक्ष्य बाधित हो रहा है..... गांव के तमाम मजूर और गरीब लोग एकजुट हो गये हैं। मगर तुम्हारे जैसे पांच–सात लोग ही हमें आगे नहीं बढ़ने देते।''[41] स्पष्टतः यहाँ गाँव के लोगों में एकता की भावना कम दिखाई देती है। बावजूद इसके संघर्ष जारी है तथा बचे हुए साथी लगातार अपने शोषण और अत्याचार के खिलाफ आवाज उठा रहे हैं, यह जानते हुए भी उन सबसे, वह ताकतवर भू–स्वामी है तथा समय पड़ने पर वह उनकी हत्या भी करवा सकता है। तभी खदेरन की मौत सुनकर गाँव का भू–पति मनजीत बाबू आपे से बाहर हो जाता है और पूरे गाँव में हाहाकर मचा देता है, ''झुंड के झुंड लोग गाँव की दुकानों, घरों और झोपड़ियों को तहस–नहस करते हुए आगे बढ़ने लगे। सामने जो भी आया उसे घायल करते हुए लोगों ने युद्ध का–सा दृश्य उपस्थित कर दिया..... दूसरे दिन गाँव में सरगर्मी–सी रेंगने लगी। बदले की भावना लोगों के मन–मस्तिष्क को उबालने लगी।''[42] यहाँ स्पष्ट है कि ये सारी घटनाएँ गाँव के लोगों के लिए एक सबक बन जाती है तथा वे चाहकर भी अपने ऊपर किये जा रहे अत्याचार और दमन के खिलाफ आवाज नहीं उठा पाते हैं। फिर भी वे जिस लड़ाई को लड़ रहे है, उसमें उनकी हार निश्चित है।

हृदयेश की 'मजदूर' कहानी में एक विकलांग मजदूर काम के लिए भटकता है तथा अपने काम के प्रति निष्ठा और भरोसा जताने के बाद जब मालिक उसे काम देता है तो भूलवश उससे हुई गलती को वह बर्दाशत नहीं कर पाता है तथा

आधी मजदूरी देकर काम से निकाल देता है, ''ओ बे लंगड़े, नीचे उतर। साला बड़ा डींग मारता था कि मालिक में दस ईंटे तीन मंजिल तक ले जा सकता हूँ, मालिक मैं मुश्किल–से–मुश्किल काम कर सकता हूँ। अब चीं बोल गया। हरामी उतर। ऊपर रहा तो तू किसी की कपाल क्रिया कर देगा।''[43] मकान मालिक जिस तरह से और जिस भाषा में एक विकलांग मजदूर के साथ बातें करता है, उससे साफ पता चलता है कि अपनी जान हथेली में लेकर काम कर रहे दिहाड़ी मजदूरों के प्रति मालिकों का नजरिया क्या है? एक ओर तो वह इन मजदूरों के साथ ढंग से बातें नहीं करता है, वहीं दूसरी ओर निर्धारित दर से मजदूरी भी कम देता है। यह स्थिति उस दिहाड़ी मजदूर के लिए और खराब होती है, जिसे कई दिनों से काम नहीं मिला होता है तथा जब मिलता भी है, तो उसमें खोट निकालकर आधी मजदूरी दे दी जाती है। जीवन के हर मोड़ पर गाँव के लोगों को प्रभू वर्ग की नीतियों और अहंकार से टकराना पड़ता है। जब तक लोग उनकी जी–हजूरी करते हैं, हाँ में हाँ मिलाते हैं, तब तक सबकुछ ठीक लगता है। लेकिन जिस दिन ये उनसे सिर उठाकर बातें करने लगते हैं, या अपने अधिकार की मांग करते हैं, वहीं से इनकी जिंदगी बदलने लगती है। परन्तु इससे उनकी समस्याओं का समाधान नहीं होता है अथवा समाजिक हैसियत ऐसी नहीं हो पाती है कि सर उठाकर गर्व से बात कर सकें। बल्कि दिन–रात कड़ी मेहनत करने के बाद भी ये एक अव्यवस्थित जिंदगी व्यतीत करने के लिए विवश होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वतंत्रता प्राप्ति और जमींदारी उन्मूलन के बाद किसान नए सामाजिक संबंधों की स्थापना के प्रति चेष्टावान हुआ, परन्तु वह संघर्ष का सही रास्ता नही पकड़ पाया और उसके भीतर सही नेतृत्व नहीं तैयार हो पाया। जमींदारी खत्म होने के बाद भी इसीलिए भारतीय किसान की दशा नहीं सुधर पाई। विनोबा को ऊसर–बंजर जमीन दान में मिली और भूस्वामी अपनी जगह पर बने रहे। किसान में अपने अतीत से घृणा, क्रोध और विद्रोह तो सीखा परन्तु प्रश्नों का सही उत्तर नहीं मिला। परिणामतः किसानों में वर्गचेतन क्रांतिकारी सर्वहारा का नेतृत्व विकसित नही हो सका और किसानों का एक हिस्सा। जमींदारी के जुए के नीचे बेगार करने को अभिशप्त रहा है। 'सावतें दशक में पूँजीवादी विकास की

परिस्थितियाँ तेजी से बदलने लगी। नवधनाढ्य, जमींदार– सामंत वर्ग सरकार तक पहुँचे और इसी के साथ किसानों का एक नया क्रांतिकारी जनवादी संघर्ष विकसित हुआ। देश में चकबंदी हुई। फलतः गरीब छोटे किसान की अच्छी जमीन उसके हाथ से निकलकर चौधरियों के पास पहुँच गई और बदले में बंजर अनुपजाऊ इलाका मिला। ऐसी हालत ने भी किसान को मजूर बना दिया। इसी काल में किसान सभा और खेत मजदूर संघ के आंदोलन तेज होते हैं।'[44]

सम्पन्न किसान छोटे किसान की अच्छी जमीन हड़पने की फिराक में रहता है। चकबंदी के समय ऐसा हुआ भी है। बलराम की 'कलम हुए हाथ' सुदीप की 'अतीत से अलग' और अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'लफंगा' ऐसी ही कहानियाँ हैं। कभी–कभी यह काम धर्मरक्षा और समाज–उत्थान के ना पर भी किया जाता है। इसी प्रकार कर्ज उतारने, लगान, सिंचाई जमा करने के लिए भी उनकी जमीन का रकबा घटता जाता है। मिथिलेश्वर की 'नपुंसक समझौते' और 'शेष जिंदगी' इन तथ्यों की तरफ संकेत करती हैं। इस प्रकार धीरे–धीरे सारी जमीन किसान के हाथ से निकल जाती है। चोर–लुटेरे कई रूपों में अपना करतब दिखाते है। यह भूमि हड़पने वाला वर्ग पूरे ग्राम–समाज पर अपना एकाधिकार बनाए रखता है। इसके कई रूप होते हैं। लाला, शाह, हाकिम और सरपंच की जमीन का रकबा तो बढ़ता ही जाता है। यह गरीब किसान को डेढ़ी–सवाई पर दाना देता है, ब्याज पर रूपये– पैसे देता है। रेहन पर जमीन के टुकड़े रखता है और फिर धीरे–धीरे जमीन पर उसका पुश्तैनी हक हो जाता है। कागज पर उसका नाम आ जाता है। उसके दुधारू जानवर तक कर्ज में बिकने लगते हैं और कर्ज टूटता नहीं है। वह भूख, गरीबी और अन्याय का सताया होता है। यही किसान–चेतना और मजदूर–चेतना का एक स्तर हैं इतना जानना ही किसान को अपने हालात से परिचित कराता है और किसान श्रमिक आंदोलन जैसा उत्साह और तेजी अपने भीतर महसूस करता है। पुरखों के कर्ज में भी जमीन सेठ–साहूकार, धनवान के हाथा में पहुँच जाती है। अनुपजाऊ जमीन का मझौला किसान भी भूमिहीन हो जाता है। यह जमीन का दर्द उसे सालता भी है। दर्शक की 'एक पोटली अनाज', पुन्नी सिंह की 'मंसुख की

कसेली', मिथिलेश्वर की 'शेष जिंदगी' कहानियाँ इन्हीं तथ्यों की ओर संकेत करती हैं।[45]

किसानी व्यवस्था में पंचायत एक महत्वपूर्ण संस्था है, जिसमें गाँव की सभी समस्याओं का निपटारा किया जाता है। इस पंचायत का प्रधान खाता–पीता बड़ा किसान होता है, जो बहुधंधी होता है। तमाम सारे नाजायज काम इसी की देख–रेख में होते हैं। यह मरणोन्मुख– संस्कृति व्यवस्था का रक्षक होता है। गाँव जाति–सम्प्रदाययुक्त होता है। तमाम पेशेवर जातियाँ भी गांवो में निवास करती है। फलतः आपसी सद्भाव के साथ जातिगत और संप्रदायगत संघर्ष की स्थिति भी रहती है। जमीन के झगड़े भी इसी पंचायत में आते हैं। परन्तु आज स्थितियाँ बदल गई हैं। आज सम्पन्न किसान छोटे किसान की मेड़ तोड़कर अपनी जमीन का रकबा बढ़ा लेता है। लेखपाल– पटवारी की जरीब भी इसे सही बता देती है। यहाँ भी किसान छला जाता हैं उसकी उपजाऊ जमीन लाठी–बंदूक और मुकदमा–कचहरी के बूते पर हड़प ली जाती है। लिहाजा किसान के पास नकदी रकम तो होती नहीं, फलतः उसकी शेष जमीन भी बिक जाती है। उसे सभी मिलकर लूटते हैं। मुकदमा जिताने वाली व्यवस्था प्रधान, चौधरी या भूस्वामी के पक्ष की होती है एक जमीदारी व्यवस्था अघोषित रूप से चलती है। देखा तो यहाँ तक गया है कि यदि छोटा किसान मुकदमा जीतता भी है, तो जीत की खुशी में वह घर तक नहीं पहुँच पाता, रास्ते में ही उसकी हत्या कर दी जाती है या कोरे कागज पर उसे अँगूठा लगाना पड़ता है। पुन्नी सिंह की कहानी 'मंसुख की कसेली' बलराम की 'कलम हुए हाथ' में इन तथ्यों को उद्घाटित किया गया है। बलराम की कहानी में तो पूरी कृषि–व्यवस्था की नग्नता को खोलकर रखा दिया गया है।[46]

किसान संस्कृति एक सामूहिक संस्कृति है। उसकी अपनी व्यवस्था तथा प्रथा है। किसान उस संस्कृति का जरूरी हिस्सा है। बढ़ते सामाजिक दबाव और विघटन की तेज होती प्रक्रिया में व्यक्तित्व और जमीन के न जाने कितने टुकड़े हो गए हैं। इसके भी बहुत से सामाजिक, आर्थिक कारण हैं। परिवार के परिवार बिखर गए हैं। किसान अपनी ही जमीन में बटाईदार और मजूर बन गया है। सामंती उत्पीड़न, अकाल, सूखा और बाढ़ ने उसे पलायन के लिए भी मजबूर कर दिया है। इस

प्रकार किसान से मजूर बनने की एक पूरी प्रक्रिया है। दाने–दाने के लिए मोहताज लोग सीला बीनने को मजबूर हो गए किसानों के खेतों में काम कर दाना पाने लगे। ये तथ्य अब्दुल बिस्मिल्लाह की 'क्रमशः' और 'सीला' कहानियों तथा पंकज बिष्ट की कहानी 'हल' में मौजूद है।[47] किसान जनता की जीवनधारा का मुख्य अंग है जो संघर्ष की भूमिका निभाता है। वस्तुतः आज की परिस्थितियों में सामाजिक मुक्ति के लिए किया गया कोई भी आंदोलन तभी वास्तविक रूप से क्रांतिकारी हो सकता है, जबकि उसका अंतर्भाव किसान और मजदूरों से निर्मित हो, केवल औद्योगिक श्रमिक से यह संभव नहीं। आजादी के पश्चात् किसान को संगठित करने और उसे कृषि क्रांति की दिशा में संचालित करने का प्रयत्न लगातार हुआ है। किसान–आंदोलन और किसान–चेतना ने नए भूमि संबंध और नए वर्ग संबंध पैदा किए हैं। इसीलिए आज का कृषक, जड़, निष्क्रिय और प्रतिरोधहीन नहीं है। निश्चित रूप से समकालीन कहानी की अर्थवत्ता तथा जीवंतता अपने समय की है और वस्तु की सच्चाइयों के संदर्भ में जीवन की सूक्ष्मता और परिवर्तन को पकड़कर आत्मसात करती है।

संदर्भ ग्रंथः–

1. मिश्र, गिरीश– द पीजेंट इन प्रजेंट डे इन इंडिया, वेबसाइट– www.zcommunication.org.
2. वासुदेव–माघ की रात, कथा में गाँव, सं. सुभाषचंद्र कुशवाहा में संकलित कहानी, पृ.–213
3. वही, पृ.–213
4. शरण, गिरिराज–ग्राम्य जीवन की कहानियाँ, प्र-–112
5. आजकल– मई 2005 अंक में प्रकाशित बलराम के लेख से उद्धृत, पृ.82
6. पत्रिका– हंस, दिसम्बर 1993, पृ.33
7. वही, पृ. 34
8. कांटक, सुरेश– सूरज उगने से पहले, पृ.58
9. राय, विवेकी– चित्रकूट के घाट पर, कहानी– आकाशवृत्ति, पृ.63
10. राय, विवेकी– चित्रकूट के घाट पर, कहानी– कुछ दाने के माने, पृ.64
11. चौबे, देवेन्द्र– समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, पृ.279
12. वहीं, पृ.162
13. वही, पृ. 164
14. पत्रिकाः कथादेश, मई 2012, पृ.30
15. मिथिलेश्वर–प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ.26
16. वही, पृ. 55
17. सिंह, शिवप्रसाद– अन्धकूप– सम्पूर्ण कहानियाँ–1 पृ.128
18. मिथिलेवर–प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ.49
19. वही, पृ.54
20. मिथिलेश्वर– गाँव के लोग, पृ. 151
21. सिंह, शिवप्रसादः अन्धकूप–सम्पूर्ण कहानियों–1, पृ.182
22. वही, पृ.183
23. संजीवः प्रेतमुक्ति, पृ.114
24. वही, पृ. 118

25. कांटक, सुरेश– जाग मुसाफिर भोर भयो, पृ.113

26. वही, पृ.130

27. प्रेमचंदः गोदान, पृ.1

28. सामायिक वार्ता– सं योगेन्द्र यादव, अंक– 6 मार्च, 2008, संपादकीय से उद्धृत

29. मिथिलेश्वरः प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ. 58

30. वही, पृ.58

31. सिंह, मधुकरः दस प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ.31

32. वहीं, पृ.35

33. सृंजयः कामरेड का कोट, पृ.130

34. वहीं, पृ.151

35. वही, पृ.129

36. अनिल, विजेन्द्रः विस्फोट, पृ.109

37. वहीं, पृ.115–116

38. विजयकांतः बीच का समर, पृ.37

39. प्रधान, चंद्रमोहनः ऐहि नगरिया केहि विध रहना, सारिका 1 अप्रैल 1983, पृ. 44

40. मोहन, मदनः बच्चे बड़े हो रहे हैं, पृ.108

41. कांटक, सुरेशः खंडित सपनों का नायक, पृ.178

42. वहीं, पृ. 183

43. हृदेयश मजदूर, समकालीन भारतीय साहित्य, संपादक–शानी, जुलाई–सितम्बर, 1990, पृ.96

44. मोहन, वीरेन्द्रः समकालीन कहानी, परम्परा और परिवर्तन, पृ.30

45. वही, पृ.31

46. वही, पृ. 32

47. वही, पृ. 33

48. वही, पृ. 35

4.1 गाँव की जिंदगी में स्त्री

ग्रामीण सामाजिक संरचना में महिलाओं की मुख्य भूमिका होती है। ये घर–परिवार संभालने के साथ–साथ खेती एवं कुटीर उद्योगों में काम भी करती है। गाँव की स्त्रियों का जीवन शहरी स्त्रियों के जीवन से भिन्न होता है। इनका रहन–सहन, इनकी सामाजिक–आर्थिक स्थिति शहरी स्त्री से अलग है। ग्रामीण स्त्रियाँ शहरी स्त्रियों से ज्यादा धार्मिक होती है। परम्परा एवं संस्कृति से इनका ज्यादा लगाव होता है। ये रूढ़िवादी भी होती है। ये सारी प्रवृत्तियाँ इनकी जिंदगी को अलग अर्थ प्रदान करती है। गाँवों में आधुनिकता की धीमी गति ने इनके जीवन को ज्यादा प्रभावित नहीं किया है। गाँव की स्त्रियाँ अपनी स्थिति के लिए ईश्वर को जिम्मेदार ठहराती है।

भारतीय हिन्दू समाज में स्त्री की अवधारणा सदैव नकारात्मक और पुरूष के पूरक रूप में दिखाई पड़ती है। हिन्दू समाज मूलतः पितृसत्तात्मक है। वंश–रक्षा के लिए पुत्र का होना अनिवार्य होता है और स्त्री की आवश्यकता पुरूषके वंश को बढ़ाने के लिए बराबर बनी रहती है। इस समूची प्रक्रिया में स्त्री केवल माध्यम बन कर आती है। माध्यम को कहीं कोई स्वतंत्रता नहीं होती। पुरूष की वंश–रक्षा के इस मातृत्व में उसकी 'सार्थकता' देखी जाती है और गृहिणी के रूप में उसकी 'उपयोगिता' ऐसे में उसका समूचा अस्तित्व पुरूष से सीधे–सीधे जुड़ता है। उसके जीवन के सारे समीकरण पति के सम्बन्धों पर केंद्रित होते हैं।

स्त्रियों के वजूद को लेकर समाज कभी भी संवेदनशील नहीं रहा है। उनके लिए पुरूष–प्रधान समाज में दिशा–निर्देश निर्धारित किया गया है। कुछ कर्त्तव्य कुछ वर्जनाएँ तो निर्धारित की है, पर कोई अधिकार नहीं दिया है। समाज की गति को निरंतरता प्रदान करने वाली सहयोगी एवं अनिवार्य पहिए के रूप में इसके जो स्वाभाविक अधिकार परिवार, समाज, संस्कृति, राजनीति और सबसे बढ़कर सम्पत्ति में होने चाहिए, उनसे तो स्त्रियों को वंचित किया जाता रहा है। भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सबसे निचले तबके की होने के कारण स्त्रियाँ हमेशा आसन्न संकट सांमती मानसिकता वाले पुरूषों का आतंक, अव्यवस्थित जीवन और अस्तित्व संकट

के कारण लगातार दोहरी मानसिकता में जीने के लिए विवश होते है। देश की आजादी के बाद बदली हुई सामाजिक– आर्थिक परिस्थितियों ने स्त्री की स्थिति में सुधार लाने की कोशिश की है। शहरों में जिसका प्रभाव ज्यादा–से–ज्यादा देखा जा सकता है। अपने ही घर में बेगानेपन के एहसास के साथ–साथ जीते–जीते उसके अंदर असंतोष का घना होता लावा धीरे–धीरे फूटने लगा। उसमें अपनी शक्ति और पहचान की लालसा पैदा होने लगी, लेकिन ग्रामीण समाज की स्त्रियाँ आज भी पुरूषसत्ता द्वारा सतायी जा रही है। समाज और परिवार दोनों ही उसका दुश्मन बना हुआ है। ग्रामीण परिवेश में बदलाव केवल इतना ही हुआ कि अब वह पुरूषसत्ता के शोषण के खिलाफ आवाज उठाने लगी है। हिन्दी साहित्य में कई रचनाकारों ने ग्रामीण स्त्री की जिंदगी और उसकी दशा पर महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी है। इनमें 'माई का शोकगीत' (दूघनाथ सिंह), 'लकड़बग्घा' (चित्रा मुद्गल), 'उज्रदारी' (मैत्रेयी पुष्पा), 'तिरिया चरितर' (शिवमूर्त्ति), 'माई का शोकगीत' (दूघनाथ सिंह), 'प्रेरणास्रोत' (संजीव), 'सावित्री दीदी' (मिथिलेश्वर) आदि विशेष तौर पर देखी जा सकती है। 'भारतीय ग्राम–जीवन में विवाह और नारी एक ऐसा सामाजिक संदर्भ है, जो अपने चारों ओर विभिन्न समस्याएँ, अनुत्तरित प्रश्न एवं विभिन्न यातनायें लपेटे हुए हैं। भारतीय ग्राम–जीवन में आज भी विवाह का सामाजिक ही नहीं अपितु धार्मिक महत्व है तथा इसे एक धार्मिक संस्कार माना जाता है, जो अटूट है। सन्तानोत्पत्ति इसी धार्मिक भावना का प्रतिफल होता है, जिसके पीछे मृत्युपरान्त अन्त्येष्टि, श्राद्ध आदि धार्मिक अनुष्ठान की भावना प्रतिबद्ध होती है। अतः कहा जा सकता है कि विवाह मानवीय समाज की एक संश्लिष्ट सांस्कृतिक घटना है, जिसके फलस्वरूप युवक–युवती, पति–पत्नी में परिणत होकर यौन–सम्बन्धों का सामाजिक निर्वाह करते हुए परिवार की स्थापना करते हैं।'[1]

नारी के सामाजिक शोषण की अनमेल विवाह–पद्धति हमारे गाँवों की प्रचलित कुप्रथा है। स्वतन्त्रता से पूर्व इसका रूप अत्यन्त भयानक था। गरीबी और अशिक्षा की चक्की में गाँव बुरी तरह पिस रहे थे और नारी का यह सामाजिक शोषण उनकी एक नियति बन गया था। स्वतंत्रता के पश्चात् भी यह कुप्रथा आज भी ग्रामीण परिवेश में दिखाई पड़ती है। फूल–सी सुकुमारी को वृद्ध के साथ

जीवन–यापन के लिए माँ–बाप द्वारा मजबूर कर दी जाती है। इसका प्रमुख कारण आर्थिक समस्या है। आर्थिक कठिनाइयों से घिरा परिवार किसी भी तरह कहीं भी लड़की को ठिकाने लगाने को तैयार होने लगता है। मिथिलेश्वर की कहानी 'सावित्री दीदी' में गरीबी की विवशता के कारण एक बाप अपनी बेटी का विवाह ऐसे व्यक्ति के साथ करना चाहता है, 'जो पहले से शादी–शुदा है और बच्चों का पिता है, लड़का 'दोआह' था। यानी उसकी पहली पत्नी तीन बच्चों को छोड़कर मर गयी थी और वह दूसरी शादी करना चाहता था। ..... उसकी उम्र करीब चालीस की थी। यानी बाबूजी से वह कुछ ही छोटा था। फिर भी बाबूजी राज़ी हो गये।''[2] यह स्थिति और भी तब भयावह हो जाती है, जब सावित्री का रिश्ता वहाँ भी पक्का नहीं हो पाता। इसके लिए माँ–बाप भी अपनी पुत्री और अपने भाग्य को ही दोष देते हैं, ''मर जाना चाहिए इस कुलक्षणी को..... इसका भतार ही नहीं है इस दुनिया में... बाप–भाई इसके चलते दरवाजे–दरवाजे मारे फिर रहे हैं..... इसे जहर खा लेना चाहिए..... जीकर क्या करेगी यह हरामज़ादी जब बाप–भाई को कंगाल ही बना देगी... हे भगवान, तू इसे उठा ले .... तीनों कुल तर जायेगा.....।''[3] यहाँ स्पष्ट है कि लड़की के पिता होने से उसे समाज के सामने कितनी परेशानियों का सामना करता है। इन सभी परेशानियों को देखते हुए अन्ततः कहानी की नायिका 'सावित्री' आत्महत्या कर लेती है। वह यह नहीं चाहती कि समाज में उसके माँ–बाप का रहना मुश्किल हो जाए, ''कहाँ शादी के नाम पर सावित्री दीदी के मुखड़े पर ख़ुशियाँ टपकनी चाहिए थी, लेकिन उनका मुखड़ा पीला, उदास और लटका हुआ लगता था और हर रात उनके रोने और सुबकने की आवाज मेरे कानों में आती थी।..... और तीसरी सुबह बिस्तरे पर सावित्री दीदी नहीं, बल्कि उनकी लाश मिली थी।..... फसलों के ऊपर कीड़ों को मारने के लिए छिड़काने वाली एलड्रीन की शीशी खाली थी।..... सावित्री दीदी ने एलड्रीन पी लिया है।''[4] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि आर्थिक अभावों से घिरे परिवार के लिए पुत्री का विवाह कितनी बड़ी समस्या है। गाँव की नारी का भाग्य भी बहुत कुछ इसी पर टिका है। कभी–कभी यह समस्या इतनी गहरी हो जाती है कि लड़की के सामने अपने जीवन को समाप्त करने के अलावा और कुछ भी शेष नहीं रह जाता है।

समाज ने स्त्रियों को भोग की वस्तु बना दिया है। गाँव हो या शहरी समाज लोगों की गंदी नजरों का सामना उन्हें करना पड़ता है। इसी कारण घर की चारदीवारी हो या घर के बाहर वह अपने आपको असुरक्षित महसूस करने लगी है। परिवार के सदस्य भी उसकी मजबूरी और विवशता का फायदा उठाने को तैयार रहते हैं। स्त्रियों की इसी समस्या को रमेश उपाध्याय की 'माटीमिली' कहानी में देखा जा सकता है, जहाँ कहानी की नायिका रधिया के पति की मौत असमय हो जाती है। वह पहले ही अपने परिवार से अलग कर दी जाती है। दूसरे गाँव आकर मुखिया ठाकुर नूरसिंह के द्वारा दी गई जमीन पर ही गुजर–बसर करने लगती है। लेकिन रधिया के पति की मृत्यु ने ठाकुर के मन में डर पैदा कर देता है कि वह कहीं जमीन पर कब्जा ना कर ले। इसीलिए गाँव के कुछ गुंडे पहलवान लोगों को उसके पीछे लगा देता है जो उस पर बुरी नजर डालते हैं, ''जब पिछले साल हैजे से मर गया तो लोगों ने सोचा था, अकेली रधिया अब क्या रहेगी यहाँ।..... एक रऊँआ देवर तो रधिया से नाता करके यहीं रह जाने की बात भी करता था, लेकिन रधिया ने लड़कर सबको भगा दिया था।... मैं अकेली ही अपनी जिंदगी काट लूँगी।' ..... पंच प्रधान लोगों को उकसाते रहते हैं कि रधिया को गाँव से निकाला जाए, लेकिन गाँव वाले रधिया का ही पक्ष लेते हैं– पड़ी रहने दो, मुखिया! विधवा है बेचारी, अपना कमाती खाती हैं।.... रधिया को नहीं मालूम लेकिन गाँव के लड़कों को मुखिया ने ही रधिया के पीछे लगाया था।''[5] लेकिन रधिया चुप नहीं रहती, वह गाँव के मुखिया और उनके भेजे गए गुंडों का विरोध करती है, वह सभी गाँव के लोगों के सामने सच बोलने से भी नहीं हिचकती है, ''कौन दूध का धोया है, मैं भी तो जानू? मुझे तो सब समझाते है, कोई उन लोगों को क्यों नही समझाता, जो हमेशा मेरी मिट्टी खराब करने की ताक में रहते है?''[6] यहाँ स्पष्ट है कि ग्रामीण समाज में स्त्रियों की स्थिति किस प्रकार दयनीय बनी हुई है। असुरक्षा और खतरों का माहौल हर समय उस पर मंडराया रहता है। खास बात यह है कि रमेश उपाध्याय ऐसी स्थितियों में उस प्रतिरोधात्मक स्त्री की छवि उठाते हैं, जो पितृसत्ता के खिलाफ खड़ा होने का साहस करती है।

ग्रामीण समाज में खेती तथा जमीन मुख्य आर्थिक संसाधान है, जिसके कारण इन पर कब्जा जमाने या हड़प लेने की लगातार कोशिशें होती रहती है। स्थिति तो तब और भयावह हो जाती है जब कोई औरत विधवा हो जाए। उस विधवा औरत की जमीन पर कब्जे के लिए घर–परिवार का सदस्य कई खतरनाक षडयंत्र रचने लगता है और उस विधवा स्त्री को रास्ते से हटाना चाहता है। मैत्रयी पुष्पा की कहानी 'उज्रदारी' में एक विधवा स्त्री के शोषण को देखा जा सकता है। कहानी की नायिका शांति के पति की मृत्यु हो जाती है और शांति विधवा। ग्रामीण समाज में विधवा स्त्री की यही दशा है। जब पति नहीं है, तब उसका शोषण शुरू हो जाता है। शांति के शब्दों में, ''हर औरत के आदमी मरने के बाद यही दशा होती है। गाँव में क्या दो चार विधवाएँ नहीं है? वे स्त्री नहीं फिर ढोर पशुओं में मिला दी जाती है..... मैं आदमी थी तब तक जब तक आदमी का हाथ सिर पर था।''[7] शांति अपने तथा अपने बेटे की दुर्दशा ज्यादा दिनों तक बर्दाश्त नहीं कर पाती और वह अपने जेठ से अपने हिस्से की माँग करती है। शांति अपने जेठ के लड़के से कहती है, अपने पिताजी से कह दे बगल वाली जमीन पर मैं छप्पर डालूंगी।' बात बंटवारे तक बढ़ जाती है और जेठ से यह सब बर्दाश्त नहीं होता, वह सभी मर्यादाएँ भूल कर देवरानी को पीटने की कोशिश करता है। वह चाहता है किसी तरह डरा धमकाकर उसे जमीन से बेदखल रखें। जेठ कहता है– ''तू मनोगी नहीं। बीरू कर तो दे इसे ठीक। साली की बोटी–बोटी बिखर जाए, फिर देख लेंगे इसके हिमायती को।''[8] हमारे समाज में औरतों को हमेशा से कमजोर समझा गया है और फिर जब विधवा हो तो उसकी कमजोरी और बढ़ जाती है। इस कहानी में मैत्रेयी पुष्पा स्त्री के प्रतिरोध को भी दिखाती है और समाज की नैतिक मर्यादाओं पर सवाल भी करती है।

दूधनाथ सिंह की कहानी 'माई का शोकगीत' ग्रामीण स्त्रियों की पीड़ा को मार्मिक ढंग से चित्रित करती है। कहानी में औपनिवेशिक भारत में गाँवों की स्त्रियों का वर्णन किया है। इन्होंने बतकही परम्परा का सहारा लेते हुए स्त्री जीवन के यथार्थ को अभिव्यक्त करने की कोशिश की है। कहानी की एक पात्र कनियाँ पर उसका पति काफी अत्याचार करता है, उसे खूब पीटता है, सिर्फ इसलिए कि वह

अभी जवान है और उसका पति अब जवान नहीं रहा। कहानी में कनियाँ गंगा माई से मिलने आया करती है। एक दिन आकर गंगा माई के गले लिपट जाती है, कहती है, ''सखी तनी हमारी पीठ उधरो तो। .... क्या देखते हैं कि पीठ पर कइन की संटी पड़ी है। रक्त ज़म गया है गोरी गोरी पीठ पर। हे महातमा जी इ सब का हो रहा है।..... तभी कनियाँ कहती है पहिले हमको छुड़ाओ न सखी! हम भी तो काल कोठरी में बंद है। हमारी भी तो कुर्ती फट गयी है। हम भी तो बेपर्द हो गये हैं। इहाँ भी तो एक ठो राक्षस पहरा दे रहा है।''[9] यह कहानी औरतों पर होने वाले जुल्म और अत्याचार को औपनिवेशिक भारत की पृष्ठभूमि में भले ही कहा गया हो, किंतु यह आज की स्त्री दशा की कहानी भी है।

इस तरह हम देखते हैं कि ग्रामीण जीवन में स्त्रियों की दशा अच्छी नहीं कही जा सकती। उनमें अशिक्षा और गरीबी जैसी समस्याएँ हैं और गाँव का प्पुरूषवादी समाज उसके शोषण से नहीं चूकता। परिवार में भी उसकी स्थिति अच्छी नहीं कही जा सकती। ग्रामीण स्त्रियों की दशा सुधारने के लिए कुछ सार्थक प्रयास सरकार द्वारा किए जा रहे हैं। कुछ स्त्रियाँ घर की देहरी लांघकर बाहर निकलने की कोशिश भी कर रहे हैं।

4.2 परिवार में स्त्री

भारतीय समाज की संरचना में स्त्री का एक अलग स्थान है। वैदिक काल से लेकर आज तक स्त्रियों की दशा शोचनीय रही है। कभी भी उन्हें किसी भी दृष्टि से योग्य नहीं समझा गया और यह अधिकार भी नहीं दिया गया कि वे पुरूषों के खिलाफ कोई ऐसा निर्णय ले सकें, जोकि उनके अहम को ठेस पहुँचा सके। किसी–किसी परिवार में तो वे अपनी जिंदगी का निर्णय तक नहीं ले पाती हैं। पारिवारिक संदर्भ में नारी–जीवन का सबसे महत्वपूर्ण प्रश्न दाम्पत्य जीवन से सम्बन्धित है, जो नारी–पुरूषपति और पत्नी के आपसी सम्बन्ध पर आधारित है। पति–पत्नी का यह दाम्पत्य सम्बन्ध भारतीय धर्म एवं संस्कृति में पवित्रता के उद्धत्त शिखर पर आसीन रहा है। पुरूषसमाज ने सदैव से धर्म तथा ईश्वर की आड़ लेकर स्त्रियों पर अनेक अत्याचार किये, क्योंकि वह स्त्री के लिए ईश्वर था। पुरूषवर्ग

द्वारा नारी के शोषण के कारण ही नारी कमजोर एवं असहाय हो गई है, पति को अधिकार था कि पत्नी के होते हुए भी वह चाहे तो दूसरा विवाह करे, जबकि पत्नी को यह अधिकार पति की मृत्यु के बाद भी न था। विशेषतः ग्रामीण परिवेश में नारी के लिए जीवन रूपी वृत्त का केन्द्र पति तथा परिवार होता है। ग्रामीण जीवन में नारी चारों तरफ से संसार से तो कटी रहती है, परन्तु अपने पति एवं परिवार के बीच भी वह बंधी रहती है। घर का मुखिया पति के आदेश का पालन करते रहने में ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। नारी को परिवार की प्रथाएँ एवं पुरानी परम्पराओं का निर्वाह करना पड़ता है। नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की कोई सार्थकता नहीं रहती है। परन्तु आज युग बदल रहा है, नारी समान अधिकार प्राप्त करने के लिए संघर्षरत है।

गाँव की स्त्रियों को शहरी स्त्रियों की तरह अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं। बचपन माता–पिता की आज्ञा का पालन करती है। शादी जैसे महत्वपूर्ण फैसले भी माता–पिता की इच्छाओं पर निर्भर करना पड़ता है। यह मात्र केवल उन्हीं के अधिकार क्षेत्र में आती है, जिसके साथ और जैसे भी वे विवाह की योजना करते हैं, उसे सहर्ष स्वीकार करना पड़ता है। मिथिलेश्वर की कहानी की एक पात्र सुनयना की भी कुछ ऐसी कहानी है। सुनयना के माता–पिता उसे बचपन से ही घर के सारे कामों में निपुण करना चाहते हैं, ताकि विवाह के पश्चात् ससुरालवालों की तरफ से कोई शिकायत न आये, ''अब यही तुम्हारा घर है, बेटी! पति के मन में रहो। सास–ससुर की सेवा करो। हम लोगों ने तुम्हारी शादी कर दी। तुम्हारी किस्मत में सुख लिखा होगा तो सुख मिलेगा और दुःख लिखा होगा तो दुःख।''[10] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि गाँव की नारी का भाग्य बहुत कुछ अभी भी उसके माता–पिता के हाथ में है। उसकी निर्णयात्मक स्थिति कुछ भी नहीं है। शादी के बाद नारी का अस्तित्व पति की इच्छा पर ही निर्भर हो जाता है। पति के साथ संबंध न अच्छे होने के कारण यातनाओं का शिकार होना भी पड़ता है। गलत होने पर भी पति अपना सारा पौरुषत्व पत्नी पर निकालता है। सुनयना अपने पति को बीड़ी जैसी गंदी लत को छोड़ने की बात करती है और इतने में ही उसे पीटने लग जाता है, ''मेरे मुँह से बदबू आती है और तुम्हारे मुँह से चन्दन की बास! औरत तो नरक होती है, नरक!

'..... सुनयना के मुँह से दुबारा बदबू और दुर्गन्ध की बात सुनते ही वे उसे मार बैठे। और फिर जब एक बार हाथ खुल गया तो बराबर खुलता ही चला गया। तब से आज तक सुनयना अनेक बार पीटी जा चुकी है।''[11] यहाँ इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि पति कभी स्त्री के समक्ष झुकने को तैयार नहीं होता। पति चाहे कितना भी गलत या बुरा व्यवहार करे, हर हाल में सजा स्त्री को ही उठानी पड़ती है, लेकिन स्त्रियों ने इस शोषण के खिलाफ आवाज उठाने की कोशिश की है। लगातार मिल रही घुटन भरी जिंदगी ने उसके अंदर के आत्मबल को बढ़ाया है। सुनयना पति के द्वारा दी जा रही यातनाओं का आखिरकार विरोध करती हुई कहती है, ''औरत काई जानवर तो नहीं होती कि उसे खाना–कपड़ा दे देने से ही काम समाप्त हो गया..... ?''[12] नारी को जीवन में जहाँ परिवारिक समस्याओं से जूझना पड़ता है, वहाँ अगर आपसी तालमेल न बैठे तो उसे पति द्वारा दिए गए अपमान, अत्याचार और पीड़ा को भी झेलना पड़ता है। ऐसी स्थिति में जब वे निष्ठावान नहीं रहती है तो वे या तो मानसिक आक्रोश व्यक्त करती रहती है, या अंदर ही अंदर घुटती रहती है या विद्रोह कर उठती है।

पारिवारिक एवं सामाजिक संबंधों को भावात्मक दृष्टि से प्रगाढ़ बनाने और उनको जीवंतता प्रदान कराने में प्रेम तत्व महत्वपूर्ण होता है। परिवार में पति की इच्छा सर्वोपरि होती है। अपनी इच्छा के अनुसार ही पत्नी का साथ देता है, नहीं तो वह उससे दूर भागने की कोशिश करने लगता है। परिणामस्वरूप दैनिक सम्पर्क में भी अन्तराल बढ़ता जाता है। 'तिरिया जनम' कहानी में सुनयना के विवाह को दस वर्ष बीत चुके हैं, लेकिन अभी तक उसका कोई बच्चा नहीं है। इसीलिए सुनयना का पति उससे दूरी बनाने लगता है। परिवार वाले उसकी दूसरी शादी कराने के बारे में सोचने लगते हैं, सुनयना को ही इसके लिए दोषी मानते हैं, ''बाँझ है... बहिला है... इसे बच्चा नहीं होगा... यह हमारे पूरे खानदान को चौपट करने आयी है... अब इस पर आस लगाना ठीक नहीं.... अब बेटे की दूसरी शादी करनी होगी.....';[13] जीवन के हर मुश्किल दौर में स्त्री अपने पति का साथ निभाती है, लेकिन इसके बावजूद भी विपरीत परिस्थितियों में परिवारवाले बहू का साथ देने की बजाए उसे ही दोषी मानने लगते हैं।

जीवन के हर मुश्किल दौर में स्त्री अपने पति का साथ निभाती है। उसके हर सुख–दुःख में वह बराबर की भागीदार बनती है। बलराम ने 'कलम हुए हाथ' में कहानी की एक पात्र अम्मा के माध्यम से एक ऐसी ही स्त्री का चित्रण किया है, जिसके पति के पास एक अच्छा जीवन जीने के लिए सब कुछ था, किसी भी चीज की कमी नहीं थी। परन्तु आज उनके पास कुछ भी नहीं बचा। इस विषम परिस्थिति में भी अम्मा ने अपने जीवन में पति तथा घरवालों के समक्ष कोई शिकायत नहीं की, ''अम्मा ने कभी कुछ बेचा नहीं। सारी की सारी खरीद–फरोख्त माधो बापू ही करते रहे है। खाने–पहनने के लिए उन्होंने जो कुछ ला दिया, अम्मा ने बनाकर, खा लिया। पहना दिया, पहन लिया। कभी कोई शिकवा नहीं, शिकायत नहीं।''[14] यहाँ स्पष्ट है कि अम्मा हर परिस्थितियों में अपने पति का साथ देती है। भारतीय परम्परा में पत्नी का पति के प्रति निष्ठावान रहना पहला धर्म है। वह पति की क्रूरता, यातना, आक्रोश व्यवहार की भिन्नता के बावजूद भी समर्पणशील होती है।

परिवार को चलाने के लिए धन की आवश्यकता होती है। ग्रामीण समाज, जो कहीं–न– कहीं बेगारी और गरीबी की समस्या से जूझता चला आ रहा है। महाजनों, जमींदारों से गाँव की भोली–भाली जनता त्रस्त नजर आती है। ऐसी स्थिति में इसका प्रभाव गाँव के परिवार पर अवश्य पड़ता है। इन कठिन परिस्थितियों में भी गाँव की स्त्रियाँ अपनी पूरी लगन के साथ पति के सुख–दुःख में उसका साथ देती है। जीविका के साधन के अभाव में भी वह हिम्मत नहीं हारती है और पूरी तरह उसका सामना करने की हिम्मत उसके अंदर दिखाई देती है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'मुर्गे ने दी बाँग' का पात्र मँगरू हल बनाने का काम करता है। उसके कुछ दिनों की मजदूरी ठाकुर के पास पड़े हुए हैं। मँगरू के घर की आर्थिक हालत ठीक नहीं है। घर में खाने के लिए रोटी तक नहीं है। मँगरू की पत्नी उसे ठाकुर से अपनी मजदूरी माँगने के लिए कहती है, 'मिस्तिराइन बोली, 'अरे आज भी भूखे रहोगे क्या? अपने रहना हो रहो, लड़के की तो फिकर करो।..... कोई मजूरी नहीं देता न सही, ठाकुर के पास तो कम नहीं है न। जाओ खेत में होंगे, ऐसे कैसे काम चलेगा।''[15] मँगरु ठाकुर के पास अपनी मजदूरी लाने दोबारा जाता है, लेकिन ठाकुर उसे मना कर देता है, ''मालिक, मेरी मजूरी मिल जाती।'

'मजदूरी!'..... 'जैसे हम गाँव छोड़कर भागे जा रहे हैं। अरे भाई दस–पन्द्रह रोज की तो बात है। जहाँ बुआई खतम हुई नहीं कि तुम्हारा हिसाब।''[16] 'मँगरू निराश होकर घर वापस लौट आता है। उसकी पत्नी जवाब पूछती है, लेकिन मँगरू का चेहरा देखकर समझ जाती है, ''सारा गुब्बार जैसे छटकर उसके आँखों से बह चला। पास ही उसकी पत्नी लेटी थी।..... उसकी धुँधली आँखों से अविरल आँसू गिरकर पत्नी के रूखे बालों को भिगोने लगे, उसके मन की सारी पीड़ा जैसे आँसुओं में बहकर शांत हो जाएगी। बड़ी मीठी रात, गरीबी और भूख की ज्वाला पर ओस के पर्दे की तरह छा गई।''[17] इन पंक्तियों से यह पता चलता है कि मजदूरी न मिलने के कारण आज भी मँगरू के परिवार के भूखे पेट सोना पड़ा। उसके आँखों से निकलने वाले आँसू उसके मजबूरी को बताते है। इस विषम परिस्थिति में मँगरू की पत्नी हिम्मत नहीं हारती है। वह अपनी पति का साथ साहसपूर्वक देती है। आर्थिक तंगी के कारण परिवार में तनाव का वातावरण छा जाता है, लेकिन ऐसे में भी गाँव की स्त्रियों का मनोबल कम होता नहीं दिखाई देता है।

ग्रामीण स्त्री के विधवा होने पर शोषण तो होता ही है, यदि पति घर छोड़कर भाग जाए या परदेश कमाने जाए तो भी गाँव की स्त्री का खूब शोषण होता है। गाँव का पुरूषसमाज उस पर फब्तियाँ कसने से पीछे नहीं हटता। अभिप्राय यह है कि अकेली औरत के लिए समाज में जीना बहुत मुश्किल है। पूरा समाज उसके चरित्र पर उंगलियाँ उठाने लगता है, उसका शोषण करने लगता है। चित्रा मुद्गल की कहानी 'लकड़बग्घा' में भी अकेली औरत के शोषण का चित्रण किया गया है। कहानी की नायिका पछांहवाली अपने जेठ से अपना हक माँगती है, खेती में उसका भी हिस्सा है। यह देख जेठ का गुस्सा सातवें आसमान पर चढ़ जाता है। जेठ कहता है, ''एक मामूली सी मेहरिया की इतनी मजाल कि वह उनके मुंह लगे? उनसे प्रश्न करने वाले और अपना निश्चय सुनाने वाले पैदा हो गए इस देहरी में? मान–मर्यादा का कोई अर्थ नहीं। इस उंदडता का मुंह कुचला नहीं गया तो एक गलत रीत का सूत्रपात हो जाएगा।''[18] ग्रामीण समाज में मान मर्यादा के नाम पर वर्षों से स्त्रियों का शोषण होता आया है। समाज की मर्यादा यह है कि छोटे लोग या औरतें घर के बड़े सदस्यों से किसी चीज की माँग नहीं कर सकती, अपने हक,

अधिकार के लिए लड़ नहीं सकती, जबकि पुरूष इसी का नाजायज फायदा उठाता है और जब कभी कोई औरत या छोटी आयु का व्यक्ति अपने अधिकार की माँग करता है तो मर्यादा भंग मान लिया जाता है। वस्तुतः हमारे समाज में हर स्तर पर विषमता है। धर्म, जाति, उम्र, अमीर, गरीब आदि के आधार पर यहाँ अन्याय होता आया है और यही सामाजिक मान्यता बन चुकी है। पछांहवाली खुद तो अनपढ़ है पर अपनी बेटी पुनिया को पढ़ाकर डॉक्टर बनाना चाहती है, पर जेठ उसके लिए पैसे नहीं देना चाहता है। जब पछांहवाली कहती है, ''हमार अलगा–अलगी कर देयो लम्बरदार।..... हमरे हाथे चार पैसा होई तो हम पाई–पाई के मोहताज तो न होइबे काहू को.....।''[19] वस्तुतः हमारा ग्रामीण समाज पितृसत्तात्मक है, जिसमें पुरूषों को अपार शक्ति प्रदान की गई है जबकि स्त्रियों के लिए उसके अधीन होना लिखा है।

ग्रामीण समाज में पुरूषवर्ग की मानसिकता यही रही है कि स्त्रियों को दबाकर और गुलाम बनाकर रखा जाए, लेकिन एक ही परिवार में जब 'स्त्री' ही दूसरी 'स्त्री' के लिए शोषण का कारण बन जाती है, तब उसकी स्थिति और भी जटिल हो जाती है। मिथिलेश्वर की कहानी 'तिरिया जनम' की पात्र सुनयना जो अपने पति की गंदी आदत से परेशान है। परिवार की अन्य औरतें सास ननद को सुनयना की यह आदत पसंद नहीं कि वह अपने पति के किसी भी बात को मना करे। इसीलिए वे सभी सुनयना को इसके लिए बहुत खरी–खोटी सुनाती है, ''सास उसके पास आकर समझाती है– 'पति की मार पर 'इरखा' नहीं करना चाहिए। पति की मार तो 'सुहाग–भाग' होता है। गाँव में कौन मर्द अपनी पत्नी को नहीं पीटता? लेकिन सभी तुम्हारी तरह खाना–पीना और काम–धाम छोड़कर तो नहीं बैठ जाती.... जो मारता है, वही दुलारता है.....''[20] एक स्त्री के द्वारा दूसरी स्त्री की अवमानना समाज की उस मानसिकता की ओर संकेत करती है, जहाँ आकर लगता है, सबकुछ समाप्त हो गया है। उसकी स्वतंत्रता, अधिकार की प्राप्ति और विकास के मार्ग में बाधा उपस्थित करती है।

सामाजिक जीवन की संरचना में नारी का पत्नी रूप के पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण रूप माता का है। नारी की ममता या वात्सल्य की भावना सहज, स्वाभाविक और प्राकृतिक है। वह ममता की भावना से अलग नहीं हो सकती।

'तिरिया जनम' कहानी एक निःसंतान नारी के करुणामय हृदय की गाथा है। सुनयना माँ नहीं बन पा रही है क्योंकि उसके पति में दोष है। परिवार वाले इस बात को मानने को तैयार नहीं होते है और वह समाज की इस रूढ़िवादीपन के बारे में मन ही मन कहती है, ''पति बच्चा पैदा करने में अक्षम है, फिर भी दूसरी पत्नी उतारने की तैयारी में लगा है। औरतें कितनी सस्ती हो गयी है। यह कैसा ग्रामीण समाज है, जहाँ पुरूषों के दोष पर विचार ही नहीं किया जाता।''[21] सुनयना के स्थिति अत्यन्त कष्टकारी तब हो जाती है, जब उसके पति की दूसरी शादी हो जाती और अपने ही घर में पति की दूसरी पत्नी को देखती है, 'आज ही सुनयना के पति की नयी पत्नी आयी है। उसके आगमन के उपलक्ष्य में सुनयना को आज फिर मार पड़ी है। सुनयना का दोष यही था कि नयी बहुरिया के आने पर उसकी आँखों में आँसू आ गये थे, 'यह सोचकर कि बेचारी की किस्मत फूट गयी..... लेकिन उसकी आँखों में आँसू देखकर घर में कुहराम मच गया– 'नयी बहुरिया के आने पर आँसू बहाकर अपशकुन कर रही है..... चुड़ैल..... बॉझिन..... खनगिन.....।''[22] यहाँ स्पष्ट होता है कि एक स्त्री का माँ बनना उसके जीवन का अहम हिस्सा है, जिसके अभाव में न केवल एक नारी को कष्ट उठाना पड़ता है, बल्कि परिवार के सदस्यों द्वारा भी उसका अपमान होता है।

4.3. श्रमिक स्त्री और उनका प्रतिरोध

भारतीय समाज के वैदिक युग में 'जननी' होने के कारण सर्वत्र स्त्रियाँ 'सम्मान' की दृष्टि से देखी जाती रही है तथा जिनका महत्त्व समाज में हमेशा स्थिर रहा है। परन्तु आधुनिक सभ्यता के आगमन और उसके विकास के साथ–साथ 'स्त्री' होने के नाते सामाजिक जीवन की मुख्यधारा में अपने आपको असुरक्षित महसूस करती है। आर्थिक बदहाली के कारण अपने घर का खर्च चलाने के लिए उन्हें मजबूरन अपने पति या पुत्र के साथ काम की तलाश में घर से निकलना पड़ता है। कभी–कभी तो उन्हें समाज और परिवार का भी विरोध करना पड़ता है।

ग्रामीण स्त्री के समक्ष सामाजिक, पारिवारिक, आर्थिक आदि से जुड़ी कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। साथ ही शिक्षा की समस्या, जीविका के

साधन का अभाव, रोजी–रोटी की समस्या, बेगारी जैसी आदि अन्य कारणों के कारण उन्हें घर छोड़कर काम की तलाश में बाहर निकलना पड़ता है। मिथिलेश्वर की कहानी 'बीजारोपण' में ऐसी ही श्रमिक स्त्री की चर्चा की गई है, जो गर्भवती है। इस कहानी में कहानीकार ने सामंती पुरूषों द्वारा किये जा रहे शोषण को दिखलाया है। धरीछन अपनी पत्नी की देखभाल अच्छे से करना चाहता है। उसके इलाके की फसलें सूखे की चपेट में आ गई है। सभी जगह अकाल की छाया छा गयी थी। धरीछन को काम मिलना बंद हो चुका था। इसीलिए धरीछन गाँव से दूर अपनी पत्नी के साथ काम की तलाश में निकल जाता है। गर्भावस्था में भी धरीछन की पत्नी उसके साथ मिट्टी खोदने का काम करती है, ''गाँव से दो मील की दूरी पर, जहाँ नहर खोदने का काम हो रहा था धरीछन जाने लगा। वह अपनी पत्नी के साथ तड़के ही चला जाता।..... धरीछन दिन भर कुदाल से मिट्टी काटता और खांची में उसे अपनी पत्नी के माथे पर उठा देता। उसकी पत्नी किनारे की मेड़ पर ले जाकर फेंक देती।''[23] कड़ी मेहनत के बावजूद भी ठेकेदार उसे उचित मजदूरी नहीं देता है। विषम परिस्थितियों में भी धरीछन और उसकी पत्नी दिन–भर काम करते हैं। इसके अलावा उनके पास और कोई रास्ता नहीं रह जाता, ''दिन भर की मजदूरी के बाद उन दोनों को सिर्फ पांच रूपये मिलते। हालांकि यह मजदूरी बहुत कम थी, लेकिन अकाल की वजह से कोई मजदूर विरोध नहीं करता था।..... धरीछन और उसकी पत्नी अपनी मजदूरी से पेट भर खा भी नहीं पा रहे थे।''[24] दो जून की रोटी पाने के लिए धरीछन और उसकी पत्नी को बैलों की तरह काम करना पड़ता है, इन पंक्तियों से साफ पता चलता है। जहाँ धरीछन की पत्नी को आराम मिलना चाहिए था, वहाँ उसे गर्भावस्था में भी काम करना पड़ता है।

ग्रामीण समाज में स्त्रियों की स्थिति निम्न दिखाई देती है। परिवार में महत्वूर्ण जिम्मेदारी निभाने के बावजूद भी उसकी स्थिति महत्वपूर्ण नहीं रही। परन्तु पति के घर छोड़ने पर उसके घर और परिवार की सारी जिम्मेदारी अकेली उठाती है। केशव दुबे की कहानी 'श्रमदान' की पात्र गन्नो अन्य मजदूरों के साथ मिलकर सड़क मरम्मत करने का काम करती है, ''गन्नो अकेली रेजा थी, जिसने उस सड़क पर सबसे ज्यादा मजदूरी की थी और पिछला श्रमदान भी देखा था। यही सब वह

दूसरे रेजा–मजूरो को समझा रही थी– 'चलो, चलो काम देखो! अरे, आज सरम–दान होगा। निकला होगा कोई महूरत, तुम साले जाने का.....।''[25] गन्नो का पति उसे छोड़कर शहर भाग गया है। उसकी गैर मौजूदगी में वह अपना और अपने बच्चे की जिम्मेदारी स्वयं निभाती है, ''लड़के का सिर ठोंकते एक हल्की–सी गाली उसे और उससे ज्यादा वजनदार उसके बाप कहाने वाले, बारेलाल को सुनाई, जो पिछले साल चुपचाप शहर भाग गया था और लौटा नहीं था। बारेलाल जैसा निखट्टू मरद जिस करमजली के मत्थे पड़े, वो भुगतेगी ही.... सो गया दई का पूरा हरामी–पिल्ला..... गन्नो ने उसे चीथड़ों में गोल–गोल लपेटकर धीरे से परे खिसका दिया।''[26] यहाँ स्पष्ट है कि स्त्रियों का जीवन कितना उतार चढ़ाव भरा है। एक तरफ तो पति के वियोग का दुःख तो वह झेलती है, दूसरी तरफ अपनी जिम्मेदारियों का वहन हिम्मत से करती हुई दिखाई देती है।

आर्थिक स्थिति से कमजोर एवं दलित वर्ग की महिलाएँ घर के कामकाज के अलावा दूसरे काम करने को भी मजबूर होती है। इसके लिए ईट–भट्ठे पर आसानी से काम मिल जाता है। इस उद्योग में आदिवासी औरतें ज्यादातर संख्या में काम करती है। शिवमूर्त्ति की कहानी 'तिरिया चरितर' में एक दलित लड़की के गरीबी की हालत में ईंट–भट्ठे पर मजदूरी करने का चित्रण बखूबी किया गया है। कहानी की नायिका विमली गाँव के ईट–भट्ठे पर काम करती है एवं अपने बूढ़े माँ–बाप की आर्थिक मदद करती है। इस पर गाँव वाले तरह–तरह की बाते बनाते हैं। विमली की माँ गाँव वालों से चिढ़कर कहती है, ''सबेरे से सांझ तक काम करो। फिर अपने घर। एहमा कौन बेइज्जती? ई गांव के लोग केहू के चूल्हे की आग बरदास नहीं कर सकते। जैसे इनकी छाती पर जलती है। इन्हीं लोगन के चलते हमारा सोना जैसा बेटवा हाथ से निकरी गवा।''[27] विमली भी कहती है– ''आधे गाँव की बिटिया पतोहू भट्ठे पर मजदूरी कर रही है।''[28] यह कहानी स्त्रियों के श्रमिक संस्कृति की ओर संकेत करती है। घर में जब काम करने वाला कोई पुरूषसदस्य न हो या फिर असहाय हो तो स्त्रियाँ काम का जिम्मा अपने ऊपर ले लेती है और घर का खर्च किसी तरह चलाती है। गाँव का आर्थिक स्थिति ऐसी होती है कि जी तोड़ मेहनत किए बिना दो वक्त की रोटी नहीं मिल पाती। श्रम प्रधान अर्थव्यवस्था

के कारण गाँव में अधिक श्रम करने पर भी कम ही लाभ मिल पाता है जबकि शहरों में पूंजी प्रधान अर्थव्यवस्था है, तकनीक है, बैठे–बैठे काम करना होता है और पैसे भी अधिक है इसी कारण गाँवों से बड़ी संख्या में श्रमिक शहर आते है। शहरों में काम का समय तथा वेतन तय है जबकि गाँवों में ऐसा कुछ भी नही। इसी कारण गाँवों में श्रम का शोषण भी ज्यादा होता है और जब काम करने वाला श्रमिक स्त्री हो तो मजदूरी और भी कम मिलती है।

गाँव के श्रमिक अधिकाशतः रोजाना की मजदूरी के हिसाब से मालिकों के खेतों में काम करते हैं। इनमें घर की स्त्रियाँ भी उनका पूरा–पूरा साथ देती है, क्योंकि इन दिहाड़ी मजदूरों की स्थिति और भी दयनीय है। इसीलिए परिवार के सभी लोग मिलकर ही काम करते हैं। कभी–कभी तो प्रभु–वर्गों द्वारा इन्हें मजदूरी भी नहीं मिल पाती है। सुरेश कांटक की कहानी 'मकड़जाला' में ऐसे ही मजदूर खदेरन और उसकी पत्नी प्रभु–वर्ग के खेतों में दिन–रात काम करते हैं, लेकिन शाम को मालिक से एक भी पैसा नहीं मिलता है, ''कल जल्दी धूप में उनके धान की सोहनी करने गया था। पत्नी भी साथ में, पसीने से लथपथ ऊपर से नीचे तक। शाम को मजूरी माँगने गया।..... उनकी आंखें लाल हो गई सुनते ही। बोले, जावोगे या नहीं यहाँ से?''[29] ग्रामीण समाज की स्त्रियाँ अपने पति और परिवार के सदस्यों के साथ मिलकर उनके काम में हाथ बटाती है। जरूरत पड़ने पर खुद ही खेतों पर काम करने जाया करती हैं। आर्थिक तंगी ने ही स्त्रियों को घर से बाहर कदम निकालने पर विवश किया है। इसीलिए घर का पूरा परिवार ही एक साथ काम पर लग जाता है। सुरेश कांटक की एक अन्य कहानी 'ठाकुरजी' में बताते हैं कि पैसे कमाने के लिए घर की सभी औरतें रात में भी खेतों पर काम करने जाया करती है, 'घुरमारी रे! चल बेटे, तैयार हो जा। भउजी और दीदी से कह दे, अपना–अपना हँसुआ लेकर जमुना सिंह के बीसकठवा में चलें और हाँ एक लोटा पानी पंडीजी के पास रखे, रात–विरात जरूरत लग सकती है।''[30] यहाँ स्पष्ट है कि दिन हो या रात, किस प्रकार गाँव की स्त्रियाँ अपने घर के साथ–साथ बाहर भी अपने परिवार के लोगों के काम में हाथ बटाती हैं। इसी तरह चित्रा मुदगल की 'लकड़बग्घा' और मैत्रेयी पुष्पा की 'उज्रदारी' कहानी में स्त्री के श्रम की कीमत को नजरअंदाज किया

गया है। इन कहानियों की स्त्रियाँ दिनभर घर का कामकाज करती है, जानवरों की सेवा करती है, किन्तु इनकी स्थिति मजदूरों से भी बदत्तर होती है मजदूर को तो वेतन भी मिलता है किन्तु इन्हें बात गाली के सिवा कुछ नहीं मिलता, सिर्फ जिंदा रहने के लिए थोड़ी सी रूखी–सूखी रोटी मिलती है।

गाँव में अभी भी स्त्रियाँ शहरी स्त्रियों की तरह आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी होकर नहीं जी सकती हैं। कभी सामाजिक तो कभी पारंपरिक बंधन और अन्ततः भूख की समस्या ने उन्हें घर से बाहर निकालकर मजदूरी करने को विवश कर दिया है। उनका जीवन एक दासों की तरह दयनीय बन चुका है। फिर भी वे अव्यवस्थित जिंदगी जीने को विवश है। यद्यपि यह सही है कि समकालीन कहानीकारों की कहानियों में आई स्त्रियाँ आज के 'नारीवादी आंदोलनों के 'फ्रेम' में नही आती है, परन्तु ग्रामीण जीवन की संरचना में उनकी उपस्थिति एवं उनका प्रतिरोधी चरित्र आनेवाली सदी में स्त्री के नये जीवन की तरफ संकेत करता है।

कृषि क्षेत्र में महिलाओं की उपस्थिति की बात करें तो इनकी भूमिका इस क्षेत्र में धूरी की तरह है लेकिन इनकी महत्वपूर्ण भूमिका को कभी स्वीकार नहीं किया गया, इसी कारण कृषि संपत्ति में महिलाओं का हक न के बराबर है और उन्हें मजदूरी भी बहुत कम मिलती है। ऐसे में लैंगिक भेदभाव के मद्देनजर राष्ट्रीय महिला आयोग ने कृषिगत निर्माताओं का ध्यान कृषि क्षेत्र से जुड़ी महिलाओं की समस्याओं की तरफ आकृष्ट करने के मकसद से 'नेशनल पॉलिसी फॉर वीमेन इन एग्रीकल्चर' नामक ड्राफ्रट तैयार किया है। इस ड्राफ्रट में 'कृषि क्षेत्र से जुड़ी महिलाओं का संपत्ति हक, पति– पत्नी दोनों के नाम पट्टा, पुरूषों के बराबर दर्जो, बराबर मजदूरी, महिला मैत्री तकनीकी औजार विकसित करने, प्राकृतिक संसाधानों में हक दिलाने व विधवा महिला को अधिकार देने पर जोर दिया गया है।'[31] कृषिगत व्यवस्था स्त्रियों की समस्याओं को समझने में प्रायः रूचि नहीं लेता है ऐसा इसलिए की पुरूषवादी समाज में सारी नीतियाँ भी पुरूषों के द्वारा ही बनाए जाते हैं। उम्मीद की जाती है कि आने वाले समय में स्त्रियों की दशा कृषि क्षेत्र में सुधरेगी एवं ग्रामीण समाज समता एवं न्याय पर आधारित होगा।

आज विश्व की कुल महिलाओं द्वारा ''कार्यकारी घंटों में दो तिहाई का योगदान दिया जा रहा है लेकिन विश्व आय का केवल दसवां हिस्सा ही ये प्राप्त कर पाती है और विश्व संपत्ति में सौंवे से भी कम हिस्सा प्राप्त है।''[32] वहीं विश्व भर में गरीबी रेखा से नीचे रहने वालों में स्त्रियों का बहुमत है। अतः कहा जा सकता है कि गरीबी का महिलाकरण हो रहा है। भारत में ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाएँ असंगठित क्षेत्र में ज्यादा काम करती है, हालांकि इसके लिए कानूनी प्रावधान बनाये गये हैं फिर भी हालत वैसी ही बनी हुई है। संविधान में वर्णित राज्य की नीति– निर्देशक तत्व के अंतर्गत राज्य ऐसी विधियाँ पारित करेगा जिससे सभी को समान कार्य के लिए समान वेतन, कार्य की औचित्यपूर्ण तथा मानवीय परिस्थितयाँ, मातृत्व अवकाश प्राप्त हो। वर्ष 1976 में समान वेतन अधिनियम के तहत यह व्यवस्था दी गई कि महिला और पुरूषकर्मियों को समान वेतन मिले। रोजगार में लिंग के आधार पर किसी प्रकार का भेदभाव न किया जाए, वहीं 1987 में कानून में संशोधन के द्वारा कानून के उल्लंघन करने पर दोषी के लिए कठोर दंड की व्यवस्था की गई है। पर तमाम विधानों के बावजूद स्थितियाँ वैसी की वैसी ही हैं। इस प्रकार सरकार अपनी नीतियों के तहत स्त्री की अधिकारिता तथा उसके श्रम की उचित श्रम की उचित कीमत पाये जाने को लेकर प्रयासरत रही हैं पर कार्यक्षेत्र में अभी यह संभव नहीं हो पाया है। इसके लिए पुरूषवादी समाज एवं मानसिकता दोषी है जो समतामूलक समाज के निर्माण के लिए अभी तैयार नहीं है।

इस तरह से हम देखते हैं कि ग्रामीण क्षेत्र की महिलाएँ श्रम की संस्कृति के अनुसार विभिन्न वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में लगी हैं। कृषि क्षेत्र में इनका प्रतिशत सबसे अधिक है और यही क्षेत्र उनकी दुर्दशा को खराब करता है, क्योंकि इसमें उन्हें कम मजदूरी मिलती है। इसके अलावा गाँव की स्त्रियाँ घर के काम–काज में भी ज्यादा समय व्यतीत करती है जहाँ इसके लिए कोई मजदूरी नहीं मिलती और ये पुरूषों के अधीन होती हैं। घर की देहरी में उनकी स्थिति सबसे ज्यादा खराब होती है। अतः जरूरत है कि महिलाओं के श्रम की उचित पहचान हो एवं उन्हें पुरूषों के समान वेतन एवं काम के अवसर मिलें।

संदर्भ ग्रंथः–

1. गुप्त, डॉ- ज्ञानचन्द : स्वातंत्र्योत्तर हिन्दी उपन्यास और ग्राम चेतना, पृ. 122
2. मिथिलेश्वरः प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ. 135
3. वही, पृ. 136
4. वही, पृ. 138
5. उपाध्याय, रमेशः दस प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ. 66–67
6. वही, पृ. 66
7. पुष्पा, मैत्रेयीः उज्रदारी, कथा में गाँव, सं- सुभाषचंद्र कुशवाहा में संकलित, पृ. 62
8. वही, पृ. 73
9. सिंह, दूघनाथः माई का शोकगीत, पृ.80
10. मिथिलेश्वरः प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ. 67
11. वही, पृ. 73
12. वही, पृ. 75
13. वही, पृ. 76
14. शरण, सं गिरिराजः ग्राम्य जीवन की कहानियाँ, पृ. 101
15. सिंह, शिवप्रसादः अन्धकूप–सम्पूर्ण कहानियाँ–**1**, पृ.–127
16. वहीं, पृ. 128
17. वही, पृ. 129
18. मुद्गल, चित्राः चर्चित कहानियाँ, पृ.101
19. वही, पृ. 102
20. मिथिलेश्वरः प्रतिनिधि कहानियाँ, पृ. 74
21. वही, पृ. 78
22. वही, पृ. 78
23. मिथिलेश्वरः गांव के लोग, पृ. 152
24. वही, पृ. 152
25. शरण, गिरिराजः ग्राम्य जीवन की कहानियाँ, पृ.–41

26. वही, पृ.–41
27. शिवमूर्त्तिः तिरिया चरितर, पृ. 100
28. वही, पृ. 101
29. कांटक, सुरेशः सूरज उगने से पहले, पृ. 57
30. कांटक, सुरेश खंडित सपनों का नायक, पृ. 91
31. दृष्टिकोण मंथन, 16–13 जुलाई, 2008, पृ. 6
32. योजना, अक्टूबर 2008, में विजय लक्ष्मी के लेख से प्राप्त आंकड़े, पृ.40

5.1 भारतीय गाँव की सरंचना, वर्ण व्यवस्था और दलित समाज

भारतीय गाँव की संरचना भारतीय समाज की संरचना की भांति वर्ण व्यवस्था में स्तरीकृत है। समाज का वर्णों में स्तरीकरण वर्णों की भूमिका द्वारा तय की जाती है समाज में जो आवश्यकताएँ अधिक महत्वपूर्ण मानी जाती है, उनसे सम्बन्धित भूमिकाओं का पूरा करने वाले लोगों की प्रस्थिति भी ऊँची होती है। समाज उन्हें अधिक सुख–सुविधा, संसाधान, पुरस्कार, शक्ति और प्रतिष्ठा प्रदान करता है। हमारे यहाँ प्राचीन काल अथवा वैदिक काल से यह सामाजिक स्तरीकरण चलता आ रहा है। सामाजिक संरचना में जिन चार वर्णों का उल्लेख मिलता है वे हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शुद्र। यजुर्वेद के पुरूषसूक्त में इन्हीं चार वर्णों की उत्पति का वर्णन आया है। वेदों में वर्णित इन चारों वर्णों के स्तरीकरण का आधार कर्म माना गया है। विभिन्न ग्रंथों में इसकी चर्चा भी की गई है। मनुस्मृति के आधारः–

'धर्मचर्य्याया जघन्योः वर्णः पूर्व वर्णमापयते जाति परिवृतौ।'[1]

अर्थात् धर्माचरण से निकृष्ट वर्ण अपने से उत्तम–उत्तम वर्ण को प्राप्त होता है और वह उसी वर्ण में गिना जाए जिस–जिस के योग्य होवे। इसी तरह दूसरे श्लोक में मनु ने लिखा है–

'अधर्मच्य्यया पूर्वों वर्णों जघन्यं वर्णमापद्यये जाति परिवृतौ।'[2]

अर्थात् अधम आचरण से उत्तम वर्ण वाला मनुष्य अपने से नीचे वाले वर्ण को प्राप्त होता है और उसी वर्ण में गिना जाए। मनुमहाराज ने शूद्रों के भी कार्य बताए हैंः–

'स्वर्णार्थमुम्यार्थ वा विद्रानाराधये त्तु सः।

जात ब्राह्मणशब्दस्य सा हस्य कृत्तकृत्यता।।'

प्रकरण– 10 (119)

मनु ने इस श्लोक में बताया है कि जो शूद्र ईहलोक में वृत्ति की ओर परलोक में स्वर्ग की कामना करता है। ऐसे शूद्र को ब्राह्मण की सेवा में संलिप्त

होना चाहिए। शूद्रों का जन्म ब्राह्मण की सेवा करने के लिए हुआ है। मनु ने साथ में यह भी बताया है कि शूद्रों को ब्राह्मण की सेवा क्यों करनी चाहिए और उस सेवा को करने से क्या फायदे होगें।

'न शूद्रे पातंक किञ्चिन्न च संस्कारैमहर्ति।

नास्याधिकारों धर्मऽास्ति न धर्मात्प्रतिषेधनम्।।'

प्रकरण– 10 (23)

अर्थात् जो शूद्र ब्राह्मण की सेवा करता है वह किसी पाप का भागी नहीं होता है। उसे अपनी शुद्धि के लिए किसी प्रकार की विधि का सहारा नहीं लेना पड़ता है। वह ब्राह्मण के धर्मानुष्ठानो में भाग नहीं ले सकता। अतः उस पर निषेध आरोपित करने की जरूरत नहीं है।

वेदों में ब्राह्मण की उत्पत्ति मुख से, क्षत्रिय की बाहू से, वैश्य की पेट से एवं शूद्र की पैर से मानी गई है। स्पष्ट है शूद्र की उत्पत्ति सबसे निम्न अंग से मानी गई है। इनके बारे में मनुस्मृत्ति में कहा है– 'ब्रा्मणोऽस्य मुखासीत' अर्थात् उत्तम गुण और श्रेष्ठ, कर्मों से ब्राह्मण वर्ण उत्पन्न होता है। वह मुख्य कर्म और गुणों से सहित होने से मनुष्यों में उत्तम होता है। 'बाहुराजन्य कृतः' अर्थात् ईश्वर ने बल पराक्रम आदि पूर्वोक्त गुणों से युक्त क्षेत्रिय वर्ण को उत्पन्न किया है। 'उरु तदस्य' अर्थात् खेती, व्यापार और सब देशों की भाषाओं को जानना तथा पशु–पालन आदि मध्यम गुणों से वैश्य वर्ण सिद्ध होता है। पदम्याँ शूद्रोः अर्थात् जैसे पग सबसे नीचे अंग है वैसे मूर्खता आदि नीच गुणों से शूद्र वर्ण सिद्ध होता है।' (मनुस्मृति, पृ. 83) इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में भी चारों वर्णों के बारे में प्रमाण मिलते हैं–

'चत्वारो वर्णाः बाह्मणों राजन्यो वैश्यः शूद्र।'[3]

–(श. ब्रा. 5/5/4/9)

इन चारो वर्णो, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र से भिन्न मनुष्य को निषादजन, असुर, राक्षस आदि नामों से अभिहित किया जाता है। वस्तुतः इन वर्णों के अलावा शेष आर्योत्तर है। इन्हें अनार्य कहा जाता है। अर्थात् चार वर्ण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और इनसे भिन्न पांचवे निषादजन, ये वेदोक्त पांच प्रकार के मनुष्य है। श्यामाचरण दूबे ने वर्ण– व्यवस्था के बारे में लिखा है– ''हिन्दू सामाजिक संरचना में सक्रिय इकाई नहीं है। यह सिर्फ विभिन्न जातियों की जन्मना प्राप्त प्रस्थिति के बारे में मोटी–मोटी जानकारी देता है।''[4] कहने का अभिप्राय यह है कि हमारे समाज में जाति ही सबसे बड़ी महत्ता रखती है। वर्ण सिर्फ समान आनुष्ठानिक प्रस्थिति वाली अनेक जातियों को एक साथ समूहबद्ध करता है एवं उनका स्तर बताता है, किन्तु जाति के आधार पर हमारे समाज का इस प्रकार विभाजन हो चुका है कि एक वर्ग के अंदर कई जातियाँ आपस में एक–दूसरे से वैमनस्य रखती है। भारतीय समाज में फैली जाति व्यवस्था के बारे में एम.एन. श्रीनिवास लिखते हैं– ''कास्ट इज अनडाउटेडली एन ऑल इंडियन फेनोमिनन इन सेंस दैट देयर आर एवरी वेयर हेराडिटरी, एंडोगेमस ग्रुप विच फॉर हेरार्की एण्ड दैट इच ऑफ दीज ग्रुप्स हैज ए ट्रेडिशनल एसोसियशन विद वन और टू ऑकुपेशन।''[5] अर्थात् जाति निश्चित रूप से एक अखिल भारतीय घटना है, जो सभी जगह आनुवंशिक एवं समान कार्य करने वाली होती है और पारम्परिक रूप से एक या दो पेशे से जुड़ी होती है।

हिन्दी कथा साहित्य में दलित लेखकों एवं कहानीकारों ने दलित की दयनीय स्थिति, उनके शोषण, दमन एवं होने वाले अत्याचारों को केन्द्रित कर अनेक कहानियों की रचना की है। महान कथाकार प्रेमचंद की कहानी 'सद्गति', 'ठाकुर का कुँआ' दलित जीवन की विसंगतियों एवं उनकी आर्थिक–सामाजिक स्थितियों का जीवित दस्तावेज है। औपनिवेशिक भारत के गाँवों में दलित की स्थिति आज से ज्यादा दयनीय रही है, जहाँ उनके पास राजनैतिक अधिकार भी नहीं थे। गाँव की संरचना की बात करें तो दलितों का मुहल्ला या टोली ऐसे स्थान पर होता है जहाँ मूलभूत सुवधिाएँ न होती है। 'ठाकुर का कुँआ' कहानी में प्रेमचंद ने लिखा है– ''गंगी प्रतिदिन शाम को पानी भर लिया करती थी। कुआं दूर था, बार–बार जाना मुश्किल था। कल वह पानी लायी, तो उसमें बू बिल्कुल न थी, आज पानी में बदबू

कैसी? लोटा नाक से लगाया तो सचमुच बदबू थी।''[6] ये पक्तियाँ ग्रामीण सामाजिक संरचना को समझने के लिए काफी है। इसी तरह प्रेमचंद की कहानी सद्गति' को देखा जा सकता है– ''तुम्हें तो जैसे पोथी–पत्रों के फेर में धरम करम किसी बात की सुधि ही नहीं रही। चमार हो, धोबी हो, पासी हो, मुंह उठाए घर में चला आए। हिन्दू का घर न हुआ, कोई सराय हुई। वह दो दाढ़ीजार से चला जाए नहीं तो इसी लुआठी से मुंह झुलस दूँगी।''[7] सद्गति में कहानीकार ने जो सबसे बड़ी बात कहने की कोशिश की है वह यह है कि सामाजिक संरचना की सबसे निम्न जाति भी हिंदू कर्मकाण्डी परम्परा और ब्राह्मण धर्म का अनुयायी है जिसके कारण उसकी दुर्गति ही होती है।

गाँव की संरचना को दो रूपों में देखा जा सकता है पहला भौतिक संरचना एवं दूसरा सामाजिक–आर्थिक संरचना। भौतिक संरचना में दलितों के घर, उनकी झोपड़ी, टोले, मुहल्ले की स्थिति तथा अवस्थान एवं संरचनात्मक सुविधाओं–संसाधानों की बात की जा सकती है। गाँव की संरचना में दलितों की स्थिति को मुधकर सिंह की कहानी 'हरिजन सेवक' में देखा जा सकता है, ''हम कुल मिलाकर बीच पच्चीस घर दुसाध है और दो घर जुलाहे। बाकी सभी वही लोग हैं। हमारे बाप–दादे पता नहीं किस जमाने से उन्हीं की सेवा टहल करते चले आ रहे हैं और उन्हीं के दिए अन्न पर पलते रहे हैं। आजादी के पच्चास साल बाद भी हम उन्हीं के मुहताज है।''[8] यह कहानी दलितों के ग्रामीण संरचना में अवस्थिति को ध्यान में रखकर लिखी गयी है जहाँ दुसाध टोली की स्थिति को बयाँ किया गया है। हमारे यहाँ गाँवों में मंदिर, मस्जिद, कुएँ, तालाब, हाट–बाजार, पंचायत के अलावा इनका दूसरा पक्ष भी है। देवेन्द्र चौबे के शब्दों में कहें तो 'दूसरा पक्ष वहाँ रहने वाले लोग हैं, जो ग्रामीण जीवन की सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक व्यवस्था का संचालन करते हैं। इसमें एक वर्ग संचालकों का होता है, जिसमें आमतौर पर जमींदार, सामंत, साहूकार, बड़े किसान और फरोहित होते हैं। दूसरा समुदाय उन लोगों का होता है जो परोक्ष या अपरोक्ष रूप से उपर्युक्त वर्गों के अधीन कार्य करते हैं। इस समुदाय के अदंर गाँव के निम्न और दलित जातियों के

लोग आते हैं, जिनमें नाई, लुहार, बढ़ई आदि के साथ ही खेतिहर एवं बंधुआ मजदूर भी होते हैं।'[9]

भारतीय समाजिक संस्थाओं में जाति एक महत्वपूर्ण संस्था है। भारत में प्राचीन काल से ही जाति प्रथा का प्रचलन रहा है। जाति–प्रथा में व्यक्ति जिस जाति में जन्म लेता है। जीवन प्रयंत वह उसी जाति का सदस्य रहता है। जातिव्यवस्था का सर्वाधिक असहनीय और भयानक पहलू अस्पृश्यता का बरताव है जिसमें कुछ मानव समूहों को अछूत घोषित कर दिया जाता है और फिर उनके साथ किसी भी प्रकार का संबंध नही रखा जाता। कहा जाता है कि उनके छूने से अपवित्रता फैलती है। एस.आर. हरनोट की कहानी 'मोची' का एक पात्र बदरू, हरिनंद पंडित के यहाँ बचपन से नौकर था। पंडित हरिनंद और उनके घर का कार्य बड़े ईमानदारी और सम्पर्ण के साथ करता था। बदरू, पंडित हरिनंद के घर को अपना घर समझता था और पंडित के घर के लोग भी उसे अपना समझते थे, अपने घर का सदस्य समझते थे। एक दिन हरिनंद के लड़के की शादी रहती है। बहू विदा होकर घर आयी रहती है। भोज का कार्यक्रम चल रहा होता है। अचानक पंडित हरिनंद के लड़के से किसी का झगड़ा हो जाता है और भगदड़ मच जाती है। सभी लोग इधर–उधर भागने लगते हैं। जिसको जिधर मौका मिला उधर भागा। बदरू भी अनजाने में भागकर रसोईघर में चला गया। तभी पंडित हरिनंद की नजर उस पर पड़ जाती है और वे आग बबूला हो उठते हैं– ''हरामी, कुत्ते, बदजात, दिखता नहीं, फूट गई दोनों कहां चला आया, मादर..... जो..... भर पेंट रोटी क्या दे दी कि अपनी औकात भूल गए...? दिखता नहीं तेरे को। सारी धाम मोट दी। हजारों लोगों ने रोटी खानी है। अब क्या दोबारा बनाऊंगा धाम, अपनी जगह भूल गया। सरकार ने थोड़ी फैसिलिटी क्या दे दी कि आसमान देखने लग गए, तुम लोग, किसने बहका दिया रे बदरू तेरे को।''[10] बदरू बार–बार कहता रहा कि ऐसा उससे अनजाने में हो गया। पर पंडित हरिनंद उसका अपमान पर अपमान किए जा रहे थे। खिन्न हो जाने पर उसने थोड़ा सा प्रतिरोध करना चाहा तो पंडित हरिनंद और भी तमतमा गए– ''अब साला जुबान भी चलाने लगा। मेरा लाखों का नुकसान कर दिया। बिरादरी मे नाक कटवा दिया। ऊपर से मेरे ही सर गलती मढ़ने लगा। मेरा

लाखों का नुकसान कर दिया। माँ के खसमों को दो रोटी क्या दे दी, ऊपर चढ़ गए।''[11] पंडित हरिनंद इतने क्रोधित थे कि वे बदरू को मारने पीटने पर उतर आए। बदरू ने पंडित हरिनंद की रसोई को अपवित्र कर दिया था। ऐसा करके उसने महापाप किया था जिसकी भरपाई करना मुश्किल था। इसलिए पंडित हरिनंद की प्रतिक्रिया भी भयावह थी। पंडित हरिनंद के प्रति बदरू कितना ही वफादार रहा हो, कितना ही ईमानदार रहा हो और कितनी ही समर्पित रहा हो आज उनके लिए यह कोई मायने नहीं रखा था। अस्पृश्यता की मान्यता के आगे आज सारे मानवीय मूल्य बेकार हो गए। वर्णाश्रम व्यवस्था के मूल्य यहाँ सारे मानवीय मूल्यों पर भारी पड़ गए। बदरू अस्पृश्यता के सारे नियमों का पालन करके ही वह सम्मान और इज्जत पा सकता था। बदरू की स्थिति और भी दयनीय हो गयी थी। सारी ईमानदारी, सारी वफादरी, सारे समर्पण का सिला उसे इस रूप में मिला था। बार–बार सोचता था कि उसका क्या कसूर था? उसने ऐसा क्या कर दिया था जिसके कारण उसे इस तरह अपमानित होना पड़ा था? मानवीय मूल्यों से उसकी आस्था उठने लगी थी। समाज की कोई भी व्यवस्था इससे घिनौनी नहीं हो सकती। जहाँ अकारण ही किसी को दण्ड दिया जाता हो। वर्णाश्रम व्यवस्था में जातिवाद के कई रूप है। पर इससे घातक और अपमानजनक कोई नहीं। यह मानवीय संबंधों पर सर्वाधिक कुप्रभाव डालती है।

अस्पृश्यता के बाद जातिवाद का सर्वाधिक घिनौना रूप अन्तर्रजातीय विवाहों के प्रसंगों को देखा जा सकता है। 'भूत सवार' (रमणिका गुप्ता) कहानी में चमार जाति से संबंध रखने वाला महावीर अपने गांव की महतो जाति की लड़की से प्रेम करता है। दोनों ही परिवार की आर्थिक स्थिति समान है। बल्कि महावीर की स्थिति लड़की के परिवार से अच्छी रहती है और दोनों के माता–पिता चाहते भी हैं कि इन दोनों की शादी कर दी जाए। पर महतो जाति के लोग नहीं चाहते। यह जानकर कि समाज के लोग उनके प्यार को स्वीकार नहीं करेंगें दोनों गाँव छोड़कर भाग जाते हैं। उन दोनों के भागने पर गाँव में पंचायत होती है। पंचायत में महावीर के पूरे परिवार का बाँध दिया जाता है पंचायत में परिस्थितियाँ ऐसी बना दी जाती है कि महावीर और मालती को विवश होकर पंचायत में आना पड़ता है। पंचायत में

लड़की के गुप्तांगो को आग से दाग दिया जाता है और महावीर को पत्थर से कुचल कर मार दिया जाता है। महावीर का पिता इस सदमें को बरदाश्त नहीं कर पाता और विक्षिप्त हो जाता है। यह कहानी कई प्रश्न छोड़ जाती है, जिसमें जातिवादी मानसिकता बहुत ही सूक्ष्म स्तर पर दिखायी देती है। अपनी महतो जाति के होने के कारण ही पंचायत में मालती के पिता को बांधकर नहीं रखा गया जबकि महावीर के पूरे परिवार को बांधकर रखा गया और छः साल की लड़की जो महावीर की बहन थी को भी बांधकर रखा गया और उसके साथ बलात्कार करने की धमकी दी गई। मालती को जान से न मारकर एक सजा देकर छोड़ दिया गया। सजा भी तब दी गई जब मालती ने यह मानने से इनकार कर दिया कि महावीर ने उसे भगा कर ले गया और साथ ही साथ उसने पंचायत में आए हुए लोगों की नैतिकता पर प्रश्न खड़ा किया। मालती को सजा देने के पीछे एक और भी कारण था। गाँव के उसके जाति के लड़के उसके पीछे पड़े हुए थे और उसने उन लड़कों को लिफ्ट न देकर उसने महावीर को दिया। पंचायत में महावीर के दोस्तों ने ही उसके सिर पर पत्थर मारकर मार डाला। क्योंकि महावीर उन लोगों से ज्याद स्मार्ट था, पढ़ने–लिखने में तेज था और महतो जाति की बहुत सी लड़कियाँ उससे अपना संबंध बनाना चाहती थीं। महावीर और उसके पिता पंचायत का विरोध नहीं कर पाए क्योंकि गाँवों में उनकी जाति की संख्या बहुत कम थी और वे सब आर्थिक रूप से अत्यंत ही विपन्न थे। इसलिए वे केवल पंचायत के सामने अपने जान और इज्जत की भीख मांग रहे थे। पर इस कहानी का मार्मिक प्रसंग वहाँ है जहाँ मालती अपने अधिकारों की मांग करती है– ''जात–पात आज के माने हैं? तोहनी भी तो छोट जाति के औरत को रख लिए हो, मोहना तो ब्याहता औरत को भगा के लाया है। हमर के महावीर अच्छा लगे है हम उकरा संग ब्याह कर ले है। प्यार जबरन थोड़े होते हैं कि हम तोहनी में से चुन लेती किसी के।''[12] यहाँ जाति के नाम पर व्यक्तिगत स्वतंत्रता और मानवता का कत्ल कर दिया जाता है।

'अंतत': नाम की कहानी में, जिसे राणा प्रताप ने लिखा है, मोहन मिसिर नाम के ब्राह्मण शिक्षक से एक फुलवा नाम की दलित लड़की से प्यार हो जाता है। मोहन मिसिर की उम्र 40 साल है और फुलवा की उम्र 20 साल है। फुलवा इनके

यहाँ पढ़ने आती थी और इसी दौरान उन लोगों के बीच प्यार हो जाता है। मोहन मिसिर अभी तक अविवाहित है और फुलवा से शादी करने के लिए तैयार नहीं है, क्योंकि उनकी जाति बिरादरी के लोगों का उन पर काफी दबाव है। पर 'हरिजन संघ' के लोग इस शर्त पर तैयार होते हैं कि मोहन मिसिर को अपनी जाति बदलनी पड़ेगी– ''मास्साहब अगर फुलवा से शादी करने के लिए तैयार हैं तो पहले इन्हें जाति परिवर्तन करना होगा.... हमारी तो ब्राह्मणी नहीं बन सकती। फिर तो उन्हें ही चमार बनना पड़ेगा।''[13] मोहन मिसिर जाति बदलने के लिए भी तैयार हो जाते हैं। मोहन मिसिर की चमार बनाने की प्रक्रिया शुरू होती है जो नितांत भोड़ी और घिनौनी है। फुलवा इसको रोकने में असमर्थ है। पर उसके पिता गनेसी को यह सब देखा नहीं गया। और वह इस जाति बदलने के पाखंड को बंद करने का आदेश देता है– ''बंद करो यह नाटक! तुम्हारे इस जलील हरकत से समाज नही बदलने वाला। छोड़ो मेरी बेटी की चिंता। जिन्दगी भर कुंआरी रहेगी। मगर मनुष्यता का इस प्रकार तो हनन मत करो।''[14] हालांकि इस कहानी में कई असंगतियाँ दिखती हैं। मोहन मिसिर एक दलित लड़की से शादी करने के लिए इसलिए तैयार हो जाते हैं कि वे अधिक उम्र दराज हो चुके हैं। अब उनकी शादी उनकी जाति बिरादरी में होना संभव नहीं है। उनके मन में इस बात के लिए किसी भी प्रकार का द्वन्द्व नहीं है कि उनकी उम्र उस लड़की से दूनी है जिससे वे शादी करने जा रहे हैं। दूसरी असंगति यह है कि इस देश में धर्म तो बदल सकता है, पर जाति नहीं। लेकिन इस कहानी में दलित लोग मोहन मिसिर को चमार बनाने का अनुष्ठान कर रहे हैं, जो स्वाभाविक नहीं है। यहाँ बदलाव का संकेत दलित समाज में उतना नहीं दिखता जितना कि ब्राह्मण समाज में।

निम्न जातियों में शादी की रस्म के बाद बड़े बाबूओं को सलाम भेजने की प्रथा कई गाँव में रही है, जिसे आधार बनाकर ओमप्रकाश वाल्मीकि ने 'सलाम' कहानी लिखी है। इस कहानी के एक अंश को देखा जा सकता है– ''बाप दादों की रीत है, एक दिन में तो न छोड़ी जावे है। वे बड़े लोग हैं। सलाम पे हो जाना ही पड़ेगा। और फिर जल में रहकर मगरमच्छ से बैर रखना तो ठीक नहीं है। और इसी बहाने कपड़ा, लत्ता, बर्त्तन–भंडी भी नेग दस्तूर में आ जाते हैं।''[15] इसी तरह

ठाकुरों के द्वारा नई बहुओं को जुठाने की रस्म के ऊपर रमणिका गुप्ता ने 'बहु जुठाई' कहानी लिखी है। दलित कहानियाँ सामाजिक बदलाव का आह्वान करती है। इनमें आक्रोश है एवं संवेदना है। दलितों की जिंदगी पर कई महत्त्वपूर्ण कहानियाँ लिखी गई जिनमें मुख्य हैं– 'सलाम', 'पच्चीस चौका डेढ सौ', 'शवयात्रा' (ओमप्रकाश वाल्मीकि), 'अपना गाँव' (मोहनदास नैमिशराय), 'चमार' (जयप्रकाश कर्दम), 'सिलिया' (सुशिला टाकमौर), 'बच्चे बड़े हो रहे हैं' (मदन मोहन), 'हरिजन सेवक' (मधुकर सिंह), आदि।

दलित साहित्य लेखन को लेकर जो विवाद दलित और गैर–दलित लेखकों को लेकर हुई, इसको 'स्वानुभूति' और 'सहानुभूति' के आधार पर अंतर किया गया है यही विवाद दलित कहानियों को लेकर भी उठता रहा है। इस संबंध में डॉ. तेज सिंह का विचार है– 'लम्बे दौर में गैर दलितों ने भी दलित जीवन और परिवेश को आधार बना कर सैकड़ों कहानियाँ लिखी है, पर वे पाठकों की मात्र संवेदनात्मक अनुभूति बटोरकर रह जाती है। 'सहानुभूति' और 'स्वानुभूति' का यह अंतर ही गैर–दलितों और दलितों की परम्परा को अलग–अलग दिशाओं की ओर ले जाता है। क्योंकि उनका साहित्यिक और सामाजिक स्तर पर भी अलग–अलग है।'[16] वहीं जब एक दलित साहित्यकार कहानी को लिखता है तो एक वे उस परिवेश से गुजर कर आते हैं, जिसके चलते उन चीजों को पढ़कर या सुनकर नहीं बल्कि अपने भोगे यथार्थ को अपने विषय में लिखते समय वह साक्ष्य के रूप में वर्तमान रहता है। इस पर अपना विचार व्यक्त करते हुए डॉ. कुसुम वियोगी का विचार है कि– 'दलित साहित्यकारों की कहानियाँ सीधे–सीधे परिवेश एवं संस्कारों से जुड़कर अभिव्यक्ति पाती है क्योंकि दलित सहित्य कथा आंदोलन का अपना सामाजिक सरोकारों से जुड़ा एक दृढ़ आधार है जबकि गैर–दलित साहित्यकार पाखंड का सनातनी दुशाला ओढ़े हुए होते हैं। जिसकी वजह से कथ्य और कार्य में कहीं भी तालमेज नजर नही आता है।'[17]

इस तरह से समकालीन हिंदी कहानीकारों ने दलितों– खेतिहर मजदूरों के ऊपर होने वाले अत्याचार एवं परिणामस्वरूप संघर्ष की स्थिति को अभिव्यक्त किया है। सरकार द्वारा चलाये जाने वाले भूमि सुधार कार्यक्रम, जिसके अंतर्गत बिचौलियों

का उन्मूलन, काश्तकारी सुधार, जोत की भूमि का सीमा निर्धारण, जोतों की चकबंदी, भूमि आलेख (रिकार्ड) आदि कार्यक्रम आते हैं, के बावजूद भूमिहीनों की दशा में सुधार नही आया है। सुखदेव के थोराट 'रूरल डेवलपमेंट प्रोबलम एण्ड प्रोस्पेक्ट' में महाराष्ट्र के दलितों की भूमिहीनता के बारे में लिखते हैं– ''इन 1992 नियरली ए क्वाटर ऑफ रूरल हाउसहोल्ड्स एमंग एस सी आउण्ड नो लैंड। एनदर 32 परसेंट आउण्ड लैड लेस दैन हॉफ एन एकर। सो द लैडलेस एण्ड नियर लैंडलेस कंस्टीच्यूट एवाउट 57 परसेंट ऑफ द एस सी हाउसहोल्ड्स इन द स्टेट।''[18] अर्थात् 1992 में ग्रामीण क्षेत्र में अनुसूचित जाति का लगभग एक चौथाई लोग भूमिहीन थे। वहीं 32 प्रतिशत के पास आधे एकड़ से कम भूमि थी। इस तरह से राज्य में अनुसूचित जाति का 57 प्रतिशत भूमिहीन और लगभग भूमिहीन है। यही स्थिति लगभग भारत के अन्य राज्यों में है।

5.2 दलित समाज एवं उनका संघर्ष एवं प्रतिरोध

दलितों की सामाजिक स्थिति की जड़ हिंदू समाज के जाति समूहों के विभाजन में निहित है। जाति सोपान के सबसे उपरि शिखर पर ब्राह्मण है। के. एल. शर्मा के अनुसार 'जन्म पर आधारित आनुष्ठानिक अपवित्रता और पवित्रता उच्च और निम्न जाति श्रेणियों के आधार माने जाते हैं। पवित्रता–अपवित्रता का मूल्य सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं जैसे भोजन, वस्त्र, धातु और व्यवसाय आदि में है। अतः न केवल व्यक्ति और जातियाँ ही पवित्र या अपवित्र हैं बल्कि हिंदू समाज में प्रत्येक वस्तु पवित्रता– अपवित्रता के मूल्य की दृष्टि से देखी जाती है। सोना शुद्ध है और चांदी कम शुद्ध है और रेशम शुद्ध है और रूई अशुद्ध है। ऐसी धारणाएँ आज भी हिन्दुओं में विद्यमान है।'[19] कहने का अभिप्राय यह है कि हिन्दू समाज में शुद्धता पर काफी जोर दिया गया है, जिसके कारण भेदभाव की स्थिति बढ़ी है।

हिन्दी कहानियों में दलितों की अपेक्षा की अभिव्यक्ति का जो सिलसिला प्रेमचंद की कहानी 'ठाकुर का कुँआ' से शुरू हुआ था आज इक्कीसवीं सदी में भी जारी है। इससे एक बात तो स्पष्ट हो जाती है कि दलितों का शोषण आज की तारीख में भी जारी है, भले ही संविधान में अस्पृश्यता उन्मूलन सम्बन्धी कानून बना

दिये गये हों। प्राचीन काल से ही दलित वर्ग को शिक्षा से वंचित रखा गया है। उन्हें भूमि ग्रहण करने या किसी प्रकार की सम्पत्ति रखने का अधिकार तो कभी था ही नहीं। जीवित रहने के लिए उनके पास कठोर श्रम के अलावा कोई विकल्प नहीं होता। मदन मोहन की कहानी बच्चे बड़े हो रहे हैं में उत्तर भारत के गाँवों की सामाजिक स्थिति अति दयनीय है– ''मुन्ना बाबु के डैडी यानी ठाकुर धरमवीर सिंह पुलिस महकमे में दारोगा के ओहदे पर थे। चंदर को देखेते ही हिंस्र हो उठे और तड़ातड़ इतने रूल बरसाये कि खुद पसीने में सरोबार हो गए। चंदर अधमरा सा जमीन पर पड़ा रहा। भकोल, भकोल की बहन सत्ती, माँ चुनरी और गोदी का सुपोल विलखते रहे। पुलिस चंदर को घसीटते थाना लेकर चली गयी।''[20] मामला फर्जी डकैती का था, चंदर बेगुनाह होते हुए भी जेल में कैद रहता है। चंदर के लिए कोर्ट में केस लड़ना आर्थिक दृष्टि कमजोर चुनरी के लिए संभव न था फिर भी हिम्मत करके केस लड़ती है किन्तु न्याय न मिल पाता है। चंदर जैसे पात्र आज भी गाँवों में अभिशप्त जीवन जीने को मजबूर हैं। ऐसा लगता है ऊँच–नीच का भेदभाव हमारी मानसिकता का अंग बन गया है।

रमणिका गुप्ता की कहानी 'बहु जुठाई' सामाजिक स्थिति की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, जहाँ गाँव के निम्न जाति के लोग 'बहु जुठाई' जैसी घृणास्पद और अपमानजनक प्रथा के विरुद्ध संघर्ष करते हैं। 'बहु जुठाई' की प्रथा मुख्यतः भुइयां और मुसहर जाति में प्रचलित थी। 'बहु जुठाई' से तात्पर्य यह था कि भुइयां और मुसहर जाति में कोई भी स्त्री जब पहले दिन शादी करके अपने ससुराल आती थी तो सुहाग की पहली रात गाँव के जमींदार के साथ बितानी पड़ती थी। इसी को बहु जुठाई कहा जाता था। 'बहु जुठाई' के बाद जमींदार दूल्हे और दुल्हन को कुछ उपहार स्वरूप गहने, कपड़े और पैसे देते थे। पर गाँव के कुछ नौजवान जो निम्न जाति के थे इसका विरोध करते हैं। इस कहानी में एक महत्वपूर्ण बात यह दिखती है कि इस प्रथा के प्रति सभी निम्न जाति के लोग इकट्ठा होते हैं, जबकि इस प्रथा के शिकार केवल भूइंया और मुसहर जाति के लोग थे। माधो पूरी तैयारी के साथ अपनी शादी करता है और उसने यह सोच रखा है कि चाहे जो कुछ भी हो जाए उसकी पत्नी ठाकुर के पास नहीं जाएगी। इसलिए पूरी योजना के साथ तमाम

लोगों को वह इकट्ठा करता है। शादी की प्रक्रिया पूरी होती है– ''सवेरे ही बारात विदा करनी है। रात भर में सब 'नेग' पूरा होता है। औरतें नेग पूरा करने में लगी है। दूल्हा को अन्दर ले गई है दालान में समधी को गरियाने के गीतो की बौछार में फूटती हंसी के अंकुर छहराए जा रहे थे घर आंगन में। भोर होते–होते विदाई के गीतों से घर रूआंसा हो गया। पर मरदों में खुसर–फुसर चल रही है... घर पिछवाड़े लड़कों की जमात जुटी है। भुइंया टोली में चमार, दुसाध और यादव टोले के नौजवान भी जुटे हैं। एक आध कोइरी, नउवा, सवा जी के लड़के भी पहुँच गए है... .।''[21] व्यक्ति में सामाजिक चेतना का आरंभ वहीं से माना जा सकता है जहाँ से उसमें स्वाभिमान जागृत होता है और वह उसकी रक्षा के लिए कमर कस लेता है। इस कहानी में भुइंया और मुसहर जाति के लोगों के साथ–साथ चमार, दुसाध, यादव, कोइरी आदि तमाम जाति के लोगों का भी स्वाभिमान जाग गया है और उसकी रक्षा के लिए सभी एकजुट हो गए हैं। अंततः माधो की शादी हो जाती है। डोली ठाकुर के यहाँ न जाकर माधो के घर पर ही जाती है। ठाकुर और उसके कारिंदों के साथ संघर्ष होता है। अंत में विजय माधो और उसके साथियों की होती है और उसी दिन से यह प्रथा समाप्त हो जाती है। संजीव की कहानी 'पूत–पूत! पूत–पूत' जो जमीन के मुद्दे को लेकर लिखी गई है। इस कहानी में दलित अपने अधिकारों की मांग करते हैं। भूदान आंदोलन के समय दलितों को जो जमीने आबंटित की गई थी। बाद में उनको लेकर विवाद उठने लगा। जिन परिवारों ने भूदान आंदोलन में अपनी जमीन दलितों को दी थी उनके परिवारों में बढ़ोतरी होने पर उनके पास जमीनें कम होने लगी, लिहाजा उन्होंने भूदान में दी गई अपनी जमीनों के लिए लालच करने लगे। चूंकि वो जमीनें जो भूदान में दी गई थी, सब बंजर जमीनें दी। लेकिन दलितों ने अपनी मेहनत से उसे उपजाऊ बना दिया था। भूदान में दी गई जमीनों को वापस मांगने का भूदानियों का एक कारण यह भी था। भूदानियों द्वारा जमीन वापस मांगने पर दलितों ने इनकार कर दिया। इसी बात को लेकर दलितों और गैर–दलितों के बीच संघर्ष होता है। खूनी जंग होती है। नक्सलाइट आंदोलन के पनपने का यही मुख्य कारण था– ''परशुरामपुर में आत्म सम्मान से जीने की लड़ाई थोड़ी हल कर ली गई थी। और इसका कारण है वह जमीन जो भूदान के वखत हमें मिली थी। अब देखिए ओ जमीन तो थी बंजर। हम

लोगों ने सालों साल खून पसीना बहाकर उसे खेती योग्य बनाया। थोड़ी खुशहाली लौटा तो जमींदारों की नजर लग गईं हमें खेत छोड़ देने की धमकी मिलीं। हम नहीं माने तो ट्रैक्टर से जोत बो लिए जबरन। मगर फसल तो आप लोगों ने ही काटी, हां, काटी जमीन हमारा था। वे फिर कब्जा करने आए तो पहली बार तीन आदमी का खून हुआ रेल पटरी के पास?''[22] जैसा कि ऊपर कहा गया है कि व्यक्ति अमीर हो या गरीब उसके पास अपना स्वाभिमान होता है। उसके साथ बड़ा प्रश्न यह होता है कि उसकी रक्षा कौन कर पाता है? स्वाभाविक है अमीर–व्यक्ति ही अपने स्वाभिमान की रक्षा करने में सक्षम होता है। भूदान–आंदोलन में जो जमीनें दलितों को मिली थीं उससे उनकी आर्थिक स्थिति में सुधार हुआ था और जिसके कारण वे अपने स्वाभिमान की रक्षा के लिए उद्यत हो उठे थे। आर्थिक सम्पन्नता सामाजिक चेतना पैदा करने में यह अच्छी तरह दिखाया गया है। इस कहानी में भूमि के प्रश्न के साथ–साथ जाति का प्रश्न भी बखूबी उभरा है– ''फिर इस आरोपित, नकली और भंगुर कास्ट की दीवारें ही क्यों नहीं सबसे पहले तोड़ते आप? यह कैसी पारदर्शी कांचनुमा व्रज की दीवार है। जो हमें आपका सब कुछ देखने तो देती हैं, मगर गले नहीं मिलने देती, जब भी हमारी बाहें आपकी ओर फैलती है। अब तो उसका संगठन भी कहता है कि मुक्ति के नाम पर मार्क्स, लेनिन, माओ की रामनामी ओढ़े कुछ संगठन सत्ता पक्ष और जाति पक्ष के पोषक है। ऐसी मुक्तिवाहिनियों के प्रधान शत्रु वे शोषक जातिवादी सत्ता व्यवस्थावादी शक्तियां नहीं, अत्य मुक्तिवादी संगठन है? आपस में ही क्यों खून के प्यासे हो जाते हैं लोग। यह अवरोध क्यों नहीं आता आपकी हिट लिस्ट में।''[23] यह कहानी जाति और जमीन पर नई बहस खड़ा करती है। इसलिए यह कहानी सामाजिक स्थिति को दिखाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है।

ओमप्रकाश की वाल्मीकि ने 'सलाम' कहानी के माध्यम से दलितों की सामाजिक स्थिति उसकी अस्पृश्यता का सवाल, उसकी हैसियत आदि को बहुत ही बखूबी से चित्रित करने की कोशिश की है। कहानी का नायक निम्न जाति का है जिसे गाँव वाले 'चहूड़े' कहते हैं। गाँव में चाय की दुकान पर इनके लिए चाय पीना मना है। चूहड़े, जाति की अस्पृश्यता को इन पंक्तियों के माध्यम से देखा जा सकता

है, ''चायवाला उसके ठीक सामने तनकर खड़ा हो गया। दोनों हाथ कुल्हों पर टिकाकर सीना चौड़ा करते हुए बोला 'ये पैसे सहर में जाकर दिखाणा। दो पैसे हो गए जेब में तो सारी दुनिया को सिर पे उठाये घूमो.... ये सहर नहीं गाँव है.... यहाँ चूहड़े–चमारों को मेरी दुकान में चाय ना मिलती... कहीं और जाके पियों।''[24] जयनंदन की कहानी 'गाँव का सबसे छोटा आदमी' में कहानीकार ने सामाजिक व्यवस्था में उत्पीड़ित दलित जाति के प्रति होने वाले भेदभाव एवं जुल्म को दिखाने की कोशिश की है। कहानी का नायक अनुभव करता है कि ''डॉक्टर एक ही रोग के दो आदमी का दो तरह से इलाज करते हैं। मतलब वे रोग नहीं लियाकत देखते हैं। भूखों, नंगो, बेसहारा, लांछितो, उपेक्षितों और अस्पृश्यों के लिए अस्पताल में इलाज से ज्यादा हिराकत– दुरदुराहट दी जा रही थी। ये मजलूम लोग लोटन को अपना प्रतिबिंब जान पड़ते थे।''[25] जयप्रकाश कर्दम की कहानी 'चमार' में बेटे को पढ़ाने के जुर्म में गाँव के सवर्ण सुक्खा का बहिष्कार कर देते हैं पर सुक्खा नहीं हारता। उसका स्वाभिमान जाग चुका है। सुरजपाल चौहान की कहानी 'साजिश' में नत्थू और शांता अपनी जमात को पुश्तैनी धंधों में बरकरार रखने की साजिश के खिलाफ उठ खड़े होते है। वे अपना हित समझ रहे हैं। इस तरह से दलित कहानियाँ आनंद के लिए नहीं बल्कि व्यापक परिवर्तन के लिए लिखी जा रही है, इनमें कलात्मकता के बजाए हकीकत और वर्त्तमान व्यवस्था की सड़ांध को दर्शाया गया है। सदियों से अपमानित और वंचित समुदाय की भाषा में लिखी गई ये कहानियाँ मुख्यधारा की कहानियों के शिल्प और पैमाने पर नहीं मापी जा सकती।

हरिसमुन बिष्ट की कहानी 'आग' जिसमें सवर्णों और डूमों दलितों के नौले अलग–अलग है। बीठ नहीं पाते हैं डूमों के नौले का पानी, वह नीचाई पर बना है। गाँव के सभी जानवर वहीं पानी पीते हैं। इस कहानी में इसके नायक डूक की झोपड़ी में आग लग जाती है जिसमें उसका पूरा परिवार स्वाहा हो जाता है। वह कहता है– ''उनकी (बीठों की) तो हमेशा की यह धारणा रही है कि मुझ जैसे लोग जिसका कोई धर्म नहीं, जिनका ईमान नहीं, जिनकी कोई भाषा नहीं, जिनका कोई कुआं नहीं, जिनका खेत नहीं, खलिहान नहीं, इस गाँव से खदेड़ दिए जाएँ और उनकी खेती बाड़ी हथिया ली जाए। उनकी मनोकामना पूर्ण हुई। उन्हें अच्छा मौका

मिला था। उस दिन मेरा घर जलाने का, मेरे परिवार को स्वाहा करने का। लोग तो कहते है कि ये असामाजिक तत्व थे। जिन्होंने मेरा घर फूंका वे कहीं बाहर से आये थे, मगर मैं उन लोगों से पूछता हूँ कि उन असामाजिक तत्व कहे जाने वाले लोगों को यह कैसे मालूम कि मैं ही यहाँ अकेला अलग जाति का हूँ... यदि यह ज्ञात भी था तो उनके खून सफेद तो नहीं था।''[26] इस कहानी का नायक अपनी जाति के कारण इस सामाजिक व्यवस्था में अभिशप्त है।

देश की आजादी के बाद ग्रामीण–जीवन की संरचना में बदलाव आया तथा दलितों के अंदर भी अस्तित्व चेतना का विकास हुआ। देवेन्द्र चौबे दलितों में आने वाली चेतना को इस रूप में देखते हैं। 'ऐसा नहीं था कि आजादी के पूर्व इनमें अपने अस्तित्व को लेकर चेतना नहीं थी, लेकिन शिक्षा, आर्थिक विवशता, जागरूकता और एकता के अभाव में बड़ी जातियाँ खासकर जमीदारों और महाजनों द्वारा शोषित होने के लिए विवश थी। लेकिन आजादी के बाद जैसे–जैसे उनमें शिक्षा के कारण ज्ञान व आत्मसम्मान का विकास हुआ तथा उनकी आर्थिक स्थिति थोड़ी मजबूत हुई– वे अपनी अस्मिता के प्रति और अधिक सचेत होते हुए तथा सामूहिक रूप से सामंतो और महाजनों के शोषण और दमन पूर्ण रवैये के खिलाफ लड़ने के लिए मैदान में उतर आये।'[27] गाँवों में दलित चेतना के जागरण का एक महत्वपूर्ण कारक इनका शहरों की ओर अभिगमन भी रहा है।

दलित साहित्य में कथाकारों ने पीढ़ी को चेतना से युक्त पाया है। यह पीढ़ी पढ़ी–लिखी एवं समझदार है। यह पीढ़ी किसी के शोषण का शिकार होने वाली पीढ़ी नहीं है। वस्तुतः यह एक बड़े बदलाव और क्रांति का संकेत है। जहाँ प्रेमचंद युगीन कहानियों में प्रतिरोध का स्वर दिखाई नहीं पड़ता है, वहीं समकालीन कहानियों में प्रतिरोध एवं संघर्ष का स्वर दिखाई पड़ता है। समकालीन कहानीकार इसी मायने में महत्वपूर्ण भी है, जिन्होंने ऐसे पात्रों एवं नायकों को जन्म दिया जो अपने वर्ग का हित कर सके। कहना उचित ही होगा कि वर्तमान की दशा एवं दिशा की चिंता समकालीन कहानीकार को ही है, जो अपने पात्रों के माध्यम से प्रतिरोध का स्वर ऊँचा करते हैं। महत्त्वपूर्ण कथाकार बलराम समकालीन कथा साहित्य के बारे में अपना मत इस रूप में रखते हैं– ''कला या साहित्य के अन्य

रूपों से तो नहीं मगर कथा साहित्य से यह उम्मीद जरूर की जाती है कि रचना होने के शर्तों पर तो अंततः खरा उतरे ही, लेकिन अपने देश और काल की सामाजिक समस्याओं से आंख चुराकर न निकल जाए, बल्कि दृढ़ता से उनसे आँख मिलाए और थोड़ी बहुत नजर आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों पर भी डालें।''[28] भारतीय समाज की मुख्यधारा के अंदर हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने वाले दलितों में दिहाड़ी और खेतिहर मजदूरों की स्थिति अति दयनीय है। देवेन्द्र चौबे मजदूरों पर लिखी कहानियों के बारे में मानते है कि ''गाँवों में मजदूरी और कृषि संबंधी संघर्ष पर लिखी गई कहानियाँ मुख्यतः दो प्रकार की हैं– एक वे, जिनमें संघर्ष की तैयारी चल रही है तथा वह कभी भी हो सकता है और दो, संघर्ष के बात खेतिहर मजदूरों और भूमिहीन किसानों के नरसंहार पर लिखी गई कहानियाँ। विजयेंद्र अनिल की 'विस्फोट', विजयंकात की 'बीच का समर', 'मरीधार', सृंजय की 'कामरेड का कोट', मिथिलेश्वर की 'मेघना का निर्णय' और बलराम की 'कामरेड का सपना' इसी प्रकार की कहानियाँ है।''[29] सृंजय की कहानी 'कामरेड का कोट' में मजदूरी तथा कृषि संबंधी संघर्ष की तैयारी में आ रहे अवरोधों की ओर संकेत किया गया है। इस कहानी में कई दलित मजदूरों की गाँव के जमीदारों के द्वारा हत्या की जाती है। यहाँ संघर्ष की वर्गीय अवधारणा दिखाई गई है जिसमें दलित वर्ग भी शामिल है। जमीनी तौर पर मजदूर जुल्म का शिकार हो रहे हैं, किन्तु पार्टी में ऊपर बैठे कामरेड सिर्फ वैचारिक विमर्श करते हैं कि मामले से कैसे निपटा जाए। इस कहानी के निम्न पंक्तियों के माध्यम से मजदूरों के विरोध और संघर्ष को समझा जा सकता है, कहानी के पात्र कमलाकांत कहते है– ''कॉमरेड! दुस्साहस अगर किसी ने किया है तो गरीब मजदूरो की भूख ने। खेत लूटने को किसी ने उकसाया है तो मजदूरों के खाली पेट ने। पेट भरा हो तो धैर्य रखा जा सकता है लेकिन भूखे पेट को धैर्य कहाँ।''[30] गाँव का भूपति जगत नारायण सिर्फ न्यूनतम मजदूरी के विवाद को लेकर चार मजदूरों की हत्या करवा देता है। गाँवों में हो रहे मजदूरों के शोषण को इस कहानी से समझा जा सकता है।

इसी तरह कहानी 'हरिजन सेवक' जिसके कहानीकार मधुकर सिंह ने दिखाया है कि दलित वर्ग ग्रामीण समाज में हाशिये पर है। उसके हाशिये पर

धकेले जाने का कारण उसकी जाति है। उसकी आर्थिक –सामाजिक दुर्गति का कारण भी जाति ही है। यह जाति उसे वंशानुक्रम से मिली है। इस कहानी में दलितों का शोषण तो होता ही है साथ ही उन्हें नक्सली करार देकर जेल भी भेजा है– ''सुबह तक पूरी दुसाध टोली जलकर राख हो चुकी थी। बाहरी कोई भी आदमी हमारी मदद के लिए नहीं आया। शोक और हाहाकार ने समूची ताकत हर लिया था। हम आग बुझाने के लायक भी नहीं रह गए थे। हमें लाश को जलाने की भी चिंता नहीं करनी पड़ी। हमने सारी हड्डियाँ चुन–चुनकर नदी में बहा दी।''[31] कहानी का नायक लगनराम को अन्याय और बाबू लोगों का विरोध करने की सजा मिल चुकी होती है। पुलिस प्रशासन सभी बड़े लोगों की बातें ही सुनते हैं। पुलिस अफसर द्वारा मुखिया से पूछे जाने पर मुखिया उत्साहित होकर कहता है– ''कहना यही है हुजूर कि लुटेरों से हमें बचाइए। आग इन्होंने हमारी तरफ लगायी थी, परन्तु प्रभु की माया देखिए कि आग उलट गयी और गुण्डों का सत्यानाश कर दिया।''[32] यह कहानी बाबू लोगों के द्वारा दलितों पर किए जाने वाले अत्याचार को दर्शाती है जिसमें पुलिस और प्रशासन सब उन्हीं के साथ है।

मदन मोहन की कहानी 'बच्चे बड़े हो रहे हैं' तथा 'चंपा' दोनों कहानियों के मूल में दलितों एवं मजदूरों का अन्याय के प्रति संघर्ष ही है। 'बच्चे बड़े हो रहे हैं' कहानी में संघर्ष का अंकूर फूटता है बच्चे के रूप में। कहानी का नन्हा पात्र भकोल गाँव के जमींदार के लड़के से लड़ाई करता है। भकोल के पिता की पुलिस फर्जी डकैती में जेल में डाल दिया होता है तभी से वह जेल में कैद है। डकैती का झूठा इल्जाम ठाकुर धर्मवीर सिंह जो कि स्वयं दरोगा थे ने लगाया था। इसके पीछे ठाकुर को जमीन को लेकर खुन्नस थी। छोटा बच्चा भकोल एक दिन अपने प्रति होने वाले अन्याय के खिलाफ आवाज उठा ही देता है। वह अपनी मां से कहता है– ''हमकू एक ठो बनुखिया ले दे माई।''[33] माँ कांप गई थी। जो काम उसके पति चंदर ने नहीं किया उसे लगा उसका बेटा कर दिखाएगा।

'चंपा' कहानी में भी नायक संघर्ष हेतु पार्टी ज्वाइन करता है। वह बड़कऊ मिसिर के अन्याय के खिलाफ आवाज उठाना चाहता है किंतु जमींदार उसे डाकू घोषित कर मरवा देता है और कथा का नायक देवमनी मारा जाता है। देवमनी

संघर्ष के बारे में अपनी पत्नी चंपा से कहता था– ''हम अपने हक, सम्मान के लिए पाल्टी का झंडा उठाए है चंपा। हमारी यह लड़ाई हक की लड़ाई है, आवाज की लड़ाई है।''[34] कहना गलत न होगा कि अन्याय और अत्याचार के कारण ही अधिकांश लोग नक्सली पार्टियों में शामिल होते है।

मधुकर सिंह की कहानी 'मेरे गाँव के लोग' संघर्ष के बाद जेल में बंद खेतिहर मजदूरों के रोमांचक और साहसी जिदंगी का चित्रण करती है। यह कहानी जहाँ एक ओर खेतिहर मजदूरों और दलितों के ऊपर हो रहे जुल्म को लोकगीतों के माध्यम से अभिव्यक्त करती है वहीं दूसरी ओर उनकी आकांक्षा और आत्मबल की तस्वीर भी हमारे सामने रखती है। पुलिस और प्रशासन की दमनात्मक भूमिका को 'एनकाउंटर' कहानी में भी चित्रित किया गया है। इस कहानी में पुलिस और प्रशासन दोनों एक होकर खेतिहर मजदूरों की आवाज को दबा देते हैं। यहाँ तक पुलिस नरसंहार में बच्चे और स्त्रियों को भी नक्सली कहकर गोली मार देती है। विजयकांत की कहानी 'मरीधार' ग्रामीण मजदूरों पर भूपतियों द्वारा किए जा रहे अत्याचार और उस अत्याचार में शामिल पुलिस की कारगुजारियों की अभिव्यक्ति करती है। कहानी का पात्र चमकू ठाकुर की भाषा में ही जवाब देता है तथा उसका प्रतिकार करता है। जब ठाकुर अपने लठैतों के साथ आता है तो चमकू अपने बेटे के साथ मिलकर उनका मुकाबला करता है। पहली बार तो वह उन लठैतों को भगा देता है किन्तु बाद में बंदूकों से लड़ाई में कई लोग मारे जाते हैं। चमकू को पुलिस पकड़ कर ले जाती है। विजयकांत की यह कहानी दिखाती है कि मजदूरों की नयी पीढ़ी भूमि स्वामियों के आगे नहीं झुकेगी। नयी पीढ़ी दमन और अत्याचार के विरूद्ध अपने आपको मानसिक रूप से तैयार कर लेती है। यह प्रतिकार की अगली कड़ी है, किन्तु इसका परिणाम नरसंहार के रूप में सामने आता है।

इस तरह से समकालीन हिन्दी कहानीकारों ने दलितों– खेतिहर मजदूरों के ऊपर होने वाले अत्याचार एवं परिणामस्वरूप संघर्ष की स्थिति को अभिव्यक्त किया है।

5.3 दलित स्त्रियाँ

स्त्री समाज की मूलभूत इकाई है। पर भारतीय परिप्रेक्ष्य में स्त्री विशेषकर दलित स्त्री, जाति व पितृसत्ता रूपी दोहरे अभिशापों के तीखे दंशों को झेलने के लिए अभिशप्त है। भारतीय समाज व्यवस्था में स्त्री होने के साथ दलित होना स्त्री के संतापों को कई गुना बढ़ा देता है। भारतीय समाज जाति व धर्म पर आधारित है। पितृसत्तात्मक भी है। पितृसत्ता ने सारे नियम अपनी सुविधा के अनुसार बनाये हैं। दलित स्त्रियाँ जाति और पितृसत्ता दोनों का उत्पीड़न झेलती हैं। घर के बाहर गैर दलित उन्हें लहूलुहान करते हैं तो घर के अन्दर दलित पुरूषों की वर्चस्ववादी मनोवृत्ति व शारीरिक हिंसा उन्हें तोड़ती हैं।

भारतीय समाज में दलित और निम्नवर्ग की स्त्रियों की सबसे बड़ी त्रासदी उनका 'स्त्री' होना तो है ही, साथ ही साथ भारतीय सामाजिक व्यवस्था में सबसे निचले तबके की होने के कारण वे हमेशा आसन्न संकट, सामंती मानसिकता वाले पुरूषों का आतंक, अव्यवस्थित जीवन और अस्तित्व संकट के कारण लगातार दोहरी मानसिकता में जीने के लिए विवश होती है। समकालीन हिन्दी कहानी में दलित और निम्नवर्ग की स्त्रियों के जीवन को लेकर जो कहानियाँ लिखी गयी हैं, वे मुख्यतः दो परिवेश की है– एक, उनके सामाजिक जीवन में प्रभावशाली लोगों द्वारा आतंक, दबाव और भय के वातावरण में जीवन व्यतीत करने की विवशता और दो, पारिवारिक जीवन में अव्यवस्थित माहौल में रहने की आदत। कर्मेन्दु शिशिर ने 'फिदुरिया', रमेश उपाध्याय ने 'माटीमिली', एस. आर. हरनोट ने 'मुट्ठी में गाँव', संजीव ने 'प्रेरणास्रोत', मदन मोहन ने 'इतजार के बाद' आदि कहानियों में दलित और निम्नवर्ग की स्त्रियों के जीवन–संघर्ष को उठाते हुए उनकी समस्याओं को हमारे सामने रखा है।

समाज में नर और नारी समान रूप से सहभागी है। किसी भी समाज की उन्नति को उस समाज की नारी की स्थिति के दर्पण में स्पष्ट देखा जा सकता है। नारी की उन्नति के बिना परिवार, समाज एवं राष्ट्र की उन्नति के सपने सजोना भूल है। समाज का महत्वपूर्ण अंग होते हुए भी नारी दूसरे दर्जे का नागरिक हमेशा

रही। दलित समाज में स्त्री–पुरूष दोनों समान रूप से आर्थिक गतिविधियों में भाग लेते हैं। स्त्री हर कदम पर पुरूष के साथ शारीरिक श्रम करते हुए घर–परिवार की जिम्मेदारियों का वहन करती है। ये स्त्रियाँ अपना जीवन शांतिपूर्वक व्यतीत करना चाहती है, लेकिन समाज और परिवार के लोगों को जब भी मौका मिलता है, इनका शारीरिक और मानसिक शोषण करने से नहीं चूकते हैं। कर्मेन्दु शिशिर की 'फिदुरिया' कहानी में ग्रामीण समाज में अकेली 'स्त्री' के शारीरिक शोषण को हमारे सामने रखती है। फिदुरिया का विवाह मुसफिरा से होता है। विवाह के पश्चात् मुसफिरा उसे मारता–पीटता रहता है। फिदुरिया के गर्भावस्था की स्थिति में भी उसका शारीरिक और मानसिक शोषण करता है, ''जब से वह मुसफिरा के पास आई, एक दिन भी चैन से नहीं रही। इधर तो बहुत दिनों से बीमार ही थी। जाने किस मनहूस खूँटे से बंध गई बेचारी! अपना भाग कोसते मरी। कितनी कुछ सहती रही। मुसफिरा तो उसे जल्लाद की तरह पीटता–हरामी, साला! और वह थी कि चुपचाप सहती रही। बेचारी दिन–रात मर–खपकर खाने का जुगाड़ करती और यह चादर ताने पड़ा रहता।''[35] घर–परिवार का मुखिया– यहाँ तक कि उसका अपना पति भी उसके साथ अभद्र व्यवहार करता है तथा जरूरत पड़ने पर शारीरिक प्रताड़ना भी देता है। भारतीय समाज में नारी के लिए जीवन वृत्त का केन्द्र पति अथवा परिवार होता है। घर के मुखिया व पति का आदेश पालन में ही उसका जीवन समाप्त हो जाता है। नारी के स्वतंत्र व्यक्तित्व की कोई सार्थकता नहीं रहती। डॉ. पुरूषोत्तम अग्रवाल के शब्दों में इसको बखूबी समझा जा सकता है। उनके अनुसार, ''स्त्री की पवित्रता तो ऐसी चीज है। जिसे तय करने और जाँचने का काम सामाजिक सत्ता को है उस सत्ता को जो स्त्री को देवी कहकर छलता है और उसके शरीर, मन और व्यक्तित्व पर उसका कोई अधिकार स्वीकार नहीं करता।''[36]

'डांगर' कहानी में लोटन की पत्नी बदमियां घर–गृहस्थी चलाने में परेशान रहती है। उसके पास एक ही बच्चा है। उसकी मेहनत मजदूरी से इतना भी नहीं बचता कि वह अपने बच्चे को पढ़ा सके। उसका पति जानवर की खाल उतारने का काम करता है। उससे भी उसको इतनी आमदनी नहीं होता कि घर का खर्च

सुचारू रूप से चल सके। अपने पति की कड़ी मेहनत और उसके बदले में मामूली सी मजदूरी से वह अत्यंत ही चिंतित रहती है। जानवरों की खाल उतारने के अपने पति के काम से उसे चिढ़ हो गई है, सोचती है कि उसका पति यह काम छोड़ दे और कोई दूसरा काम करे। बदमिया भी कड़ी मेहनत करती है, पर उससे घर की स्थिति नहीं सुधरती। उसके पास इतनी आमदनी नहीं हो पाती कि वह अपने बच्चे को पढ़ा सके और अपने पति की गिरती हुई सेहत को संवार सके। अत्यंत ही निराशा के क्षणों में सोचती है– ''आखिर जमीन के गिरे चावल है। छोड़ ही दें। लेकिन उसका मन नहीं माना। खुद को समझाया । इन चावलों का भला क्या दोष? उतना ही मेहनत से रोपे गए, सोलह बोझ की एक बोझ मजूरी से घर आए, जांगर खटा मींज कूट का। उसका जी थरथरा उठा। उसने पीठ पीछे झुक कर दरवाजे से बाहर देखा। लोटन चमरगारन में लगा था। उसे बहुत अजीब लग रहा था। जिंदगी ईख सी पेरकर छोड़ देती है, कितनी बार घिसती खाल उतर जाती है। फिर भी सारी उमर पेट ही पहाड़ रहा। कभी पार नहीं देखा....।''[37] अपनी इन परेशानियों से उबरने के लिए बेतहाशा काम करती है, गाँव की उच्च जाति की महिलाओं को तेल मालिश से लेकर झाड़ू पोंछा सब करती हैं, पर वही ढाक के तीन पात। उसकी खुशियाँ और इसकी कल्पनाएं सबकी सब समाप्त हो जाती है। तमाम चिंताओं और पेरशानियों को सहते हुए एक दिन असमय ही मृत्यु को प्राप्त हो जाती है।

'जुगाड़' कहानी में बिंदा का पति बाबू खेतिहर मजदूर है, उसके पास हिरवा और जोन्हीं नाम के दो बच्चे हैं। बाबू गांव के मालिक के यहाँ नौकरी करता है। वह इस नौकरी से संतुष्ट नहीं है। क्योंकि वहाँ उसे बारहों घंटो मेहनत करनी पड़ती है, पर मिलता है केवल एक दिन की खाने की मजदूरी– 'हिरवा का बाबू उठकर बैठ गया था, कुछ सोच रहा था वह। बिंदा उठकर बरतन–बासन कर रही थी। मन ही मन दोनो जुगाड़ सोच रहे थे, खरची का। मालिक के यहाँ आज जाना ठीक नहीं ससुरा सेर भर खरची देगा और दिन भर का काम अड़ा देगा। आज तो चाहे जो हो, काम पर निकलेगा वह। बिन्दा से उसने मन की बात बता दी उसने और पूछा– ''छटाक भर भी चावल नहीं हैं। छटाक भर क्या है तो आधा सेर।

लेकिन आधा सेर ही दोनों टेम की भूख मिटेगी।' ऐसा कर कि बच्चों के लिए गोलहथा पका दे। इन लोगों को खिला दे। और हम दोनों अपना जुगाड़ देखते है।''[38] पति खाने की जुगाड़ करने चला जाता है। ऐसा नहीं कि इस जुगाड़ करने की प्रक्रिया में उसकी पत्नी बिंदा हाथ पर हाथ धरे बैठी रहती है। जुगाड़ के लिए वह भी संघर्ष करती है। बल्कि वह दो स्तरों पर संघर्ष करती है। और दूसरे साथ ही साथ वह परिवार को व्यवस्थित रखने और चलाने का भी उपक्रम करती है। वह बेतहाशा भाग–भागकर गाँव के लोगों का छोटा–मोटा घरेलू काम करती है। गर्भवती महिलाओं की तेल मालिश करती है। उनके बच्चे जनवाती है। जो भी हो सकता है वह सब कुछ करती है। ताकि उसे और उसके परिवार को दो जून की रोटी मिल सके– ''बिन्दा ने बरतन बासन, झाड़–बुहार की और आग सुलगाने चली थी कि याद आया कि किशुन मलिकार की पतोहू को आठ रोज तेल– मालिश किया था और चार रोज की ही मजदूरी मिली थी। चार सेर कच्ची नाज उनके यहाँ बाकी है। आखिर किस दिन देंगे वह, मर खप जाएंगे तब । बाप रे तीन महीने से ऊपर हुआ। भादों की किच्– किच् में जाकर तेल पोता था और ससुरी चार रोज की मजूरी देकर देखो न कैसी चुप है। मैं भूल गई तब वह भी भूल गई थी क्या? अरे इन मलिकार की मेहरियों के मन में जो बेइमानी रहती है, खूब जानती हूँ। दबा के पड़े हैं, भूल गए तो मजूरी गई।''[39] पति मजदूरी करने के लिए बाहर चला जाता है, ताकि दिन के लिए भोजन पानी की व्यवस्था हो सके। जबकि पत्नी बिन्दा अपनी मेहनत की कमाई से घर में खाने–पीने की जुगाड़ करती है। घर–परिवार चलाने के लिए बिन्दा को दूनी मेहनत करनी पड़ती है।

रमणिका गुप्ता की 'बहु जुठाई' एक प्राचीन प्रथा पर आधारित कहानी है, जैसा कि इसके नाम से ही पता चलता है। छोटा नागपुर इलाके में जमींदारी प्रथा है। वहाँ कोयला की खाने हैं जो जमींदारों के हाथों में है। उस क्षेत्र के जितने भी गरीब आदिवासी और दलित हैं सब के सब बंधुआ मजदूर हैं। अर्थात् जमीदारों के गुलाम हैं। इन गरीब परिवारों के बच्चे हो या स्त्रियाँ सभी इनके अधीन है। वे चाहे इनका जिस तरह उपयोग करें। इसे ही 'बहु जुठाई' की प्रथा के नाम से जाना जाता हैं। इस क्षेत्र में आधुनिकता की लहर पहुँचने पर इस प्रथा के विरूद्ध आवाज

उठने लगी है। लोगों के अंदर भारी आक्रोश तो है लेकिन समस्या है कि उसके विरोध की शुरूआत कौन करे। माधो इसकी पहल करने के लिए तैयार होता है। उसकी फुलमतिया से शादी तय हो गई है। वह 'बहु जुठाई' के सिलसिले में अपनी बिरादरी तथा अपनी ही तरह की अन्य बिरादरियों के लोगों से बात की। लड़की के मायके वालों से भी बात की। माधो किसी भी हालत में अपनी पत्नी के साथ बहु–जुठाई की रस्म नहीं करवाना चाहता था। अंततः सभी लोग हिम्मत करते हैं कि चाहे जो भी हो यह प्रथा समाप्त होना चाहिए। पूरी योजना तैयार की गई और यह तय किया गया कि फुलमतिया की डोली ठाकुर के यहाँ नहीं जाएगी। जब डोली माधो के दरवाजे पर ले जाने के लिए दबाव डालने लगे। तब माधो फुलमतिया को घर के अंदर भेज ठाकुर के पहलवानों से लोहा लेने लगा। इस तरह एक योजना के तहत आए सभी छोटी जाति के लोग एकजुट होकर पहलवानों की पिटाई करने लगते हैं। और अंत में सभी पहलवान भाग खड़े होते हैं। ठाकुर साहब आते हैं। उनको भी सभी मिलकर सबक सिखा देते हैं। उसी दिन से यह प्रथा समाप्त हो जाती है। इस कहानी में एक ध्यान देने वाली बात यह है कि इस प्रथा से दलित महिलाओं का यौन–शोषण होता है, किन्तु दलित उनमें इसके प्रति कहीं कोई आक्रोश, आत्मग्लानि और विद्रोह की भावना नहीं दिखती। बल्कि इसके विपरीत दलित महिलाएँ इस बात पर चर्चा करती है कि 'बहु जुठाई' के समय उसको कितना कम और कितना ज्यादा उपहार मिला है– ''अपन गाँव में तो केकरो से कहना सुनना बेकार हय। केकरा पर विश्वास करय। सभी की बहू तो ठाकुर जुठलाय है और सभे के माय ठाकुर साहब के बाप। राधू मन ही मन सोचते हुए बुदबुदाया– कोउ में दम न हय तभी पहलवानों के साथ ठाकुर साहब को बराहिल नेग लेकर आ गया। पूरे पांच रूपए के चमचम करते सिक्खों की माला भेजी है ठाकुर साहब दूल्हा के लिए। लगे हैं इस बार दुल्हिन के चांदी चढ़ौते ठाकुर साहब। मुहल्ले की बहुएं सोच–सोच कर मन मसोस कर जा रही थी। उनके भाग में चांदी न थी। पीतल से ही काम चला लिया ठाकुर ने। पर ठाकुर जवान हले अब तो बूढ़ हो गेले।''[40] यह सोचकर संतोष कर रही थी कि वह सब कि उनको जवान ठाकुर ने जुठाया था, भले ही पीतल मिला। इससे प्रश्न उठता है कि क्या दलित महिलाओं में नैतिकता और स्वाभिमान की कोई चीज नहीं होती? या गुलामी को सहते–सहते

उनका स्वाभिमान इस कदर मर गया था कि वे अपनी गुलामी का आंनद लेने लगी थीं।

गाँव की जिंदगी में यूं तो स्त्रियों की जिंदगी बहुत अच्छी नहीं कहीं जा सकती, उनका सामाजिक और पारिवारिक शोषण होने की घटना आम है, किंतु गाँव के कुछ महिला पात्र ऐसी भी है जो अपने प्रति होने वाले अन्याय और शोषण का विरोध करती हैं। कहीं–कहीं तो वह प्रतिरोध करने में पुरूषों से आगे निकल आती हैं। ग्रामीण महिलाओं का प्रतिरोध दो स्तरों पर दिखाई पड़ता है, एक तो वे घर–परिवार में अपने ऊपर होने वाले अन्याय का विरोध करती है, दूसरे घर के बाहर पुरूषसत्ता तथा सामंती सत्ता से जूझती हैं। स्त्री के इस प्रतिरोध में उनका शिक्षित होना जरूरी नहीं है। कई जगहों पर अशिक्षित और घर का कामकाज करने वाली महिलाएँ अन्याय व शोषण का विरोध करती है। यह विरोध उनकी चेतना के जागृत होने की पुष्टि करता है। ग्रामीण जीवन में प्रतिरोध के मुहिम में ज्यादातर निम्न वर्गीय महिलाएँ हैं। वे अपनी जाति के हीनता बोध से ऊपर उठकर सर उठाती हैं।

संजीव की 'प्रेरणास्रोत' में एक दलित स्त्री के गाँव सामंती ताकतो के अन्याय के प्रतिरोध को दर्शाया गया है। कहानी की नारी पात्र जंगली बहू का पति पंजाब कमाने जाता है। उसकी खेती कर्ज लेने के कारण गिरवी रखी होती है। फिर भी जंगली बहू हिम्मत नहीं हारती। गाँव वालों के विरोध के बावजूद वह पंचायत चुनाव जीतती है। गाँव में पानी की टंकी बननी होती है, किंतु यह गाँव के ठाकुरों के क्षेत्र में बनाने की योजना हुई जिससे निम्न जाति के लोगों को पानी नहीं मिलता। जंगली बहू यह जानती थी इसी कारण वह स्त्रियों को संगठित कर पंचायत घर के पास घटना प्रदर्शन करती है एवं प्रधान के अन्याय का विरोध करती है। कहानीकार ने लिखा है, ''दस बजते–बजते लगा, धूल का कोई बगूला दक्षिण से उठकर पूरब–उत्तर की ओर बढ़ रहा है, हाँ जंगली बहू ही थी– प्रौढ़ाओं, वृद्धाओं और किशोरो का एक तीस–एक जत्था। सड़क के चौराहे से लेकर दुकानों, फसलों, झाड़ियों के पीछे सर ही सर थे।''[41] जंगली बहू भिन्नू से कहती हैं, ''इस निवास में पानी की टंकी क्यों बनाई जा रही है? उसी दक्षिण पट्टी में एक ट्वेल गाड़कर

सिंचाई और पीने के पानी का प्रबंध क्यो नहीं कर दिया जाता।''[42] इस कहानी के माध्यम से संजीव ने एक दलित स्त्री के प्रतिरोध को दर्ज कराया है।

मदन मोहन की 'चंपा' में एक दलित ग्रामीण स्त्री का सामंती एवं उच्च वर्ग की अन्याय के प्रति विरोध की स्थिति को दिखाया गया है। चंपा का पति देवमनी अन्याय और अत्याचार के खिलाफ लड़ाई लड़ते हुए मारा जाता है। उच्च वर्ग के लोग पुलिस के साथ मिलीभगत करके देवमनी को डाकू घोषित कर मार देते हैं। गाँवों में अपने सम्मान और हक के लिए किसानों, मजदूरों और अनुसूचित जाति के लोगों ने संघर्ष की लंबी लड़ाई लड़ी है। वहीं गाँव के उच्च वर्ग ने इनकी लड़ाई को हमेशा दबाने की कोशिश की है। इसी के परिणामस्वरूप देवमनी मारा जाता है और उसके साथी गिरफ्तार हो जाते हैं। उन्हें जेल की सजा होती है इधर देवमनी की पत्नी चंपा विधवा और असहाय होकर भी उच्चवर्ग के प्रति विरोध की आग जलाये रखती है। वह देवमनी के मित्र मनोहर से मिलने अक्सर जेल जाया करती है। मनोहर में वह अपने पति की छवि देखती है। गाँव वाले इस असहाय स्त्री के चरित्र पर लांछन लगाते हैं। एक स्त्री से बदला लेने का सबसे अच्छा और कारगर हथियार होता है उसके चरित्र पर उंगली उठाना एवं उसे दुश्चरित्र घोषित करना। चंपा के साथ भी यही किया जाता है, किन्तु अपनी आँच को वह बुझने नहीं देती और प्रतिरोध की क्रांति को जलाये रखती है। इस कहानी के संबंध में मैनेजर पांडेय लिखते हैं– ''मदन मोहन की इस कहानी में चंपा का आत्मसंघर्ष सामाजिक संघर्ष के साथ–साथ हत्या की राजनीति के विरूद्ध संघर्ष की ओर भी संकेत है। चंपा एक ऐसी स्त्री की कहानी है जो प्रेमचंद और रेणु की कहानियों में मिलने वाली स्त्रियों से भिन्न ही नहीं, संकल्प की दृढ़ता के कारण विशिष्ट भी है।''[43] इस तरह से यह कहानी वर्गीय संघर्ष में उच्च वर्ग के शोषण और अत्याचार के खिलाफ स्त्री के प्रतिरोध को अभिव्यक्त करती है।

शिवमूर्त्ति की 'तिरिया चरितर' स्त्री की प्रतिरोध को दर्शाने वाली कहानी है, जिसमें विमली नाम की नायिका पंचायत में अपने खिलाफ होने वाले अन्याय का प्रतिरोध करती है। कहानी में विमली एक दलित वर्ग की स्त्री है। गरीबी की स्थिति में वह ईंट भट्ठे पर काम करती है एवं अपने माता–पिता का खर्च चलाती है।

ससुराल जाने पर विमली का ससुर छल से उसका बलात्कार करता है और अपना दोष छिपाने के लिए विमली को दुश्चरित्र साबित करता है। गाँव में पंचायत सभा आयोजित की जाती है। पंचायत में उसे सजा दी जाती है। किन्तु विमली इस सजा का प्रतिरोध करती है और कहती है, 'मुझे पंच का फैसला मंजूर नहीं। पंच अंधा है। पंच बहरा है। पंच में भगवान का सत नहीं है। मैं ऐसे फैसले पर थूकता हूँ– 'आक्थू...। देखती हूँ कौन माई का लाल दगनी लगाता है।'[44] पर पुरूष की सत्ता के आगे स्त्री की कब सुनी गई है? वह पुरूषों की ताकत के आगे असहाय हो जाती है। वह चीखती–तड़पती रहती है किन्तु कोई सहायता नहीं करता। दागने की सजा पूरी होती है उसे सच्चरित्र होने एवं अन्याय का विरोध करने की सजा मिल चुकी होती है। इस तरह से हम ग्रामीण स्त्रियों के द्वारा अन्याय का प्रतिरोध करने वाली कई कहानियाँ पाते हैं जिनमें वे पुरूषसमाज, सामंती समाज, रूढ़ियों और घर में होने वाले शोषण के खिलाफ आवाज उठाती है।

आजादी के एक युग बीतने के बाद भी दलित समाज की स्थिति जस की तस है। उनके विकास एवं कल्याण की योजनाएं मात्र सरकारी दफ्तरों की फाईलों की शोभा बन कर रह गई है। सवर्णों के अत्याचार जैसे दलितों के साथ मार–पीट करना, मैला ढोना, दलित आदिवासी स्त्रियों के साथ अमानवीय व्यवहार, घर जलाना, दलित दूल्हे को अपमानित करना जैसी घटनाएँ कम होने के स्थान पर बढ़ती ही गई है। कहने का तात्पर्य यह है कि आजादी के पचास वर्ष पश्चात् भी भारतीय समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग आज भी उपेक्षा और घृणा युक्त तिरस्कृत जीवन जीने को विवश है। जिसके लिए विकास का कोई अर्थ नहीं है। दलित रचनाकार दलित समाज की इन समस्याओं से आँख मूंद कर नहीं निकल पाया है। दलित समाज के उत्थान का प्रश्न हमेशा ही उसके सामने मुँह बाये खड़ा रहा है। दलित समाज के लिए साहित्य खाली समय में मनोरंजन या विलास की वस्तु न होकर समाज उत्थान का माध्यम है। एक ओर वह जहाँ अपने ऊपर हुए अत्याचारों का विरोध करता है वहीं दूसरी ओर दलित समाज में चेतना जागृति का कार्य भी करता है। अत्याचार का विरोध करने की भाषा ही उसकी वेदना को प्रकट करने में सक्षम है।

'दलित साहित्यकारों को डॉ. अम्बेडकर ने एक सपना दिया था जिसने उन्हें तर्क करने, विरोध करने की शक्ति दी और वे हीन–भावना को छोड़कर आत्मसम्मान, स्वाभिमान के विकास में जुटे। वे अपनी अस्मिता कायम करने के संघर्ष में अलग–अलग स्तरों पर संगठित भी हो रहे हैं। हालांकि वे स्वयं भी अभी तक मनुवादी सोच से मुक्त नहीं हो पाए हैं। कभी–कभी वे स्वयं भी ब्राह्मणवादी आचरण करते हैं– अपने ही समाज में मनु द्वारा निम्न करार की दी गई जातियों के लोगों के साथ।'[45] अंबेडकर ने कहा था कि, ''बाह्मणवाद से लड़ने के लिए मजदूरों में वर्गहित और वर्ग चेतना विकसित करने की जरूरत है। उन्होंने दलित वर्गों से अपील की थी कि वे अब तक अपनी सामाजिक तकलीफों के हल के लिए आंदोलन करते रहे हैं, परन्तु अब उन्हें जाति के रूप में नहीं एक मजदूर वर्ग के रूप में अपनी आर्थिक तकलीफों को दूर करने के लिए आंदोलनरत होने की जरूरत है। उन्होंने जोर देकर कहा कि दलित वर्गों की मुक्ति वर्ग हित की लड़ाई में है, न कि जाति हित में। जाति हित ब्राह्मणवाद को मजबूत करता है जबकि वर्गहित समाजवाद का रास्ता है। यही मुक्तिपथ है।''[46] इस प्रकार हम पाते हैं कि अंबेडकर जो कि दलितों के हित के लिए आंदोलन करते हैं उसकी परिणति समाजवाद में होती है क्योंकि इसी से पूरे समाज का भला होगा न कि सिर्फ कुछ जातियों के आंदोलन से। वर्तमान में चलाए जा रहे विभिन्न संघर्ष आंदोलनों में दलित जातियाँ वर्गीय अवधारणा पर ही लड़ाई जारी रखी हुई है। इनकी लड़ाई में पिछड़ी जातियाँ, शूद्र आदि भी हैं जो मजदूरी करते हैं और शोषण के शिकार हैं। कहना उचित ही होगा कि गाँवों के ऊपर लिखी गई समकालीन कहानियाँ प्रतिकार का साहित्य है जो व्यापक लड़ाई का एक हिस्सा है।

संदर्भ ग्रंथ–

1. मनुस्मृति, पृ. 70
2. वहीं, पृ. 70
3. वहीं, पृ. 83
4. दूबे, श्यामाचरणः भारतीय समाज, पृ. 43
5. श्रीनिवास, एम. एन.– सोशल चेंज इन मॉडर्न इंडिया, पृ. 3
6. प्रेमचंदः मानसरोवर, पृ. 84
7. प्रेमचंद की सर्वश्रेष्ठ कहानियाँः साधना पब्लिकेशन,पृ. 318
8. सिंह, मधुकरः हरिजन सेवक, पृ. 10
9. चौबे, देवेन्द्रः समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, पृ. 22
10. हंस, फरवरी 1997, पृ. 64
11. वही, पृ. 64
12. हंस, जुलाई– 1999, पृ. 40
13. दूसरी दुनिया का यथार्थ– 1997, पृ. 208
14. वहीं, पृ. 210
15. वाल्मीकि, ओम प्रकाश–सलाम, पृ.16
16. सिंह, डॉ. तेजः आज का दलित साहित्य, पृ. 4
17. वही, पृ. 4
18. थोराट, के सुखदेवः रूरल डेवलमेंट– प्रोवलम एण्ड प्रोस्पेक्ट, पृ. 185
19. शर्मा, के. एल. भारतीय समाज, एनसीईआरटी, कक्षा 12, पृ. 91
20. मोहन, मदन– बच्चे बड़े हो रहे हैं, पृ. 105
21. गुप्ता, रमणिका– बहु जुठाई, पृ. 117
22. हंस सितम्बर– 1998, पृ. 81
23. वहीं, पृ. 81
24. वाल्मीकि, ओम प्रकाश– सलाम, पृ. 12
25. जयनंदन– सन्नाटा भंग (संग्रह), पृ. 175

26. बिष्ट, हरिसुमन– आग, सामार आजकल, हीरक जयंती विशेवांक, मई 2005 में बलराम के लेख से, पृ. 82
27. चौबे, देवेन्द्र–समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, पृ. 26
28. बलराम–आजकल हीरक जयंती विशेषांक, मई 2005, पृ. 82
29. चौबे, देवेन्द्र–समकालीनः कहानी का समाजशास्त्र, पृ. 169
30. सृंजय–कमरेड का कोट, पृ. 130
31. सिंह, मधुकर–हरिजन सेवक, पृ. 20
32. वहीं, पृ. 21
33. मोहन, मदन–बच्चे बड़े हो रहे हैं, पृ. 108
34. मदन मोहन–चंपा, कथा में गाँव (सं.) सुभाषचंद्र कुशवाहा में संकलित कहानी, पृ. 146
35. शिशिर, कमेंन्दु– कितने दिन अपने, कहानी– फिदुरिया, पृ. 9
36. अग्रवाल, डॉ- पुरूषोत्तम–संस्कृति, वर्चस्व और प्रतिरोध, पृ. 49
37. शिशिर, कर्मेन्दु– लौटेगा नहीं जीवन, पृ. 41
38. दूसरी दुनिया का यथार्थ– 1997, पृ. 240
39. वहीं, पृ. 241
40. वहीं, पृ. 115
41. संजीव– प्रेरणास्रोत, कथा में गाँव, सं सुभाषचंद्र कुशवाहाः में सकलित, पृ. 37
42. वहीं, पृ. 39
43. कुशवाहा, सुभाषचंद्र– (सं.) कथा में गाँव की भूमिका से, पृ. 8
44. शिवमूर्ति– तिरिया चरितर, पृ. 143
45. गुप्ता, रमणिकाः आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 6
46. चंद्र, सुभाषः अंबेडकर से दोस्ती, पृ. 16 से उद्धृत

6.1. ग्रामीण भारत में आदिवासी समाज

दुनिया के हर कोने में आज कुछ ऐसे मानव समुदाय निवास कर रहे हैं, जो वहाँ निवास कर रहे अन्य समुदायों की अपेक्षा पिछड़े हुए एवं उपेक्षित हैं। तुलनात्मक रूप से ऐसे पिछड़े समदुायों का अस्तित्व सभ्यता की 'निम्न अवस्था'[1] से रहा है और आज की आधुनिक सभ्यता में भी तुलनात्मक रूप से ऐसे समुदाय अस्तित्व में है जो अन्य समुदायों की अपेक्षा अधिक पिछड़े हुए एवं उपेक्षित हैं। इन समुदायों के पिछड़े हुए होने के कई कारणों में एक इनकी अपनी भौगोलिक स्थिति और इनके प्रतिद्वंदी समुदायों के राजनैतिक दुराग्रह प्रमुख है। आज जिन्हें सामान्यतः 'ट्राइब' या 'आदिवासी' कहा जाता है ये ऐसे ही पिछड़े समुदाय है। ये चाहे दक्षिण अमेरिका के 'रेड इंडियन' हो, आस्ट्रेलिया के 'एस्किमो' हो, दक्षिण अफ्रीका के 'अश्वेत' हो या भारत के 'आदिवासी' हो।

इन समुदायों को पहचाने के लिए अलग–अलग जगहों पर अलग–अलग नामों से संबोधित किया गया है। यही कारण है कि शब्द आज इनकी पहचान कराते हैं। जैसे 'इंडिजिनस' (देशज), प्रिमिटिव (आदिम), एबोरिजिनल्स (देशज), नेटिव (मूल निवासी), नैव (भोला–भाला), सेवेज (जंगली), ओरिजिनल सेटलर्स (आरंभिक निवासी), बर्बर, ट्राइव या आदिवासी आदि–आदि। इन शब्दों पर गौर करे तो ये दो प्रकार के अर्थ ध्वनित करते हैं। एक 'आदि समय' से और दूसरा 'आदिम अवस्था' में। इन शब्दों में कुछ शब्द 'आदि समय' के अर्थ का बोध कराते हैं और कुछ 'आदिम अवस्था' के अर्थ का बोध कराते हैं। इस आधार पर हम इन्हें दो वर्गों में विभाजित कर यह जान सकते हैं कि आदिवासी कौन है और कौन–सा शब्द इनकी सही पहचान कराता है। 'इंडिजिनस' शब्द 'आदि समय' और इस अर्थ का बोध कराने वाले दूसरे शब्दों का पर्याय माना जा सकता है। ये अन्य शब्द हैं– 'एबोरिजिनल्स', 'नेटिव' और 'ओरिजिनल्स सेटलार्न'। दूसरी तरफ 'आदिवासी' शब्द ऐसा है जो 'आदिम अवस्था' और इस अर्थ का बोध कराने वाले शब्दों का उचित प्रतिनिधित्व करता है। ये शब्द है–प्रिमिटिव, नैव, सेवेज, बर्बर आदि। अंग्रेजी का 'ट्राइब' और हिन्दी का 'जनजाति दो ऐसे शब्द हैं, जो अन्य शब्दों की अपेक्षा ज्यादा

चलन में हैं, लेकिन ये शब्द इन समुदायों की विशेषताओं का प्रतिनिधत्व लगभग नहीं के बराबर करते हैं।

'इंडिजिनस' शब्द का शाब्दिक हिन्दी अर्थ ऑक्सफोर्ड डिक्शनरी के अनुसार 'देशज' है। अर्थात् यह शब्द उन समुदायों की पहचान कराता है जो देशज या मूलनिवासी है। 'देशज' शब्द किसी समुदाय की पहचान या विशेषता की अपेक्षा इस बात का बोध अधिक कराता है कि ये मूलतः यहीं के रहने वाले हैं। इस शब्द का महत्व इसके साथ जुड़े राजनैतिक आग्रहों के चलते बढ़ा है। 'ट्राइब' शब्द का प्रयोग रोमवासी एक राजनीतिक इकाई के लिए करते थे। इस राजनीतिक इकाई की विशेषता यह थी कि यह कई कबीलों के संयोजन से बनी थी। आगे पश्चिमी लोगों ने इस शब्द का प्रयोग उन कबीलों को ही परिभाषित करने के लिए शुरू कर दिया। इन कबीलों की सामाजिक–आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी, इसलिए इन्हें काफी उपेक्षित कर दिया गया था। कालांतर में सभी तरह के गरीब व उपेक्षित कबीलों के लिए इस शब्द का इस्तेमाल किया जाने लगा। औपनिवेशिक शक्तियों ने जिन कबीलों का शोषण किया, जिनको हीन समझा, उन्हें 'ट्राइब' कहा। इसी आधार पर भारत के आदिवासियों को भी अंग्रेजों ने 'ट्राइब' संबोधित किया, जो कि आज तक चलन में है। आंद्रे बेतेई का यह मानना सही है कि आदिवासियों का यह निर्धारण औपनिवेशिक निर्माण है।[2] 'ट्राइब' शब्द से इन समुदायों की सारी विशेषताएं स्पष्ट नहीं होती है। आगे ट्राइब एक नजरिया भी बना, जिसने कम या ज्यादा लेकिन समान शासन व्यवस्था, भाषा, संस्कृति, रीति–रिवाजों वाले समुदायों को भी परिभाषित किया है। इस शब्द के बदलते संदर्भों ने आदिवासियों को जानने में काफी हद तक सहायता पहुँचाया है। लेकिन भारत के संदर्भ में यह पर्याप्त सहायक साबित नहीं हो पाया है। क्योंकि भारतीय परिवेश में अभी भी इसका औपनिवेशिकी संदर्भ प्रभावशाली है।

हिन्दी में आदिवासियों की पहचान के लिए मुख्यतः चार शब्दों का पर्याय रूप में इस्तेमाल किया जाता है, जंगली, वनवासी, जनजाति और आदिवासी। आर्यों के आगमन के समय मैदानी क्षेत्रों में रहने वाले ये मूलनिवासी जंगलों में चले गये और मुख्य धारा के आर्य समाज के दूर ही रहे। इन्होंने अपने आपको जंगल

की परिस्थितियों के अनुसार ढाल लिया है। अपनी संस्कृति में बहुत कुछ अच्छा बचाये रखने में सक्षम होने के बाद भी बाहरी लोगों ने इनको उपेक्षापूर्ण ढंग से 'जंगली' कहा है। इनको 'जंगली' कहने में उन लोगों का पूर्वाग्रह झलकता है, जिनका संबध इनसे केवल व्यावसायिक ढंग का रहा है। आदिवासियों को 'जंगली' कहने से केवल इतना बोध होता है कि जंगल में रहने वाले लोग। यह शब्द आदिवासियों की पूरी तरह पहचान नहीं कराता है। क्या मैदानों में रहने वालों को 'मैदानी' कहकर उपेक्षित किया जा सकता है? कोई भी समुदाय कहीं भी निवास करे, भौगोलिक स्थिति के अलावा उसकी पहचान के अन्य तत्व भी होते हैं, जैसेः शासन–व्यवस्था, भाषा, संस्कृति आदि।

दूसरा शब्द है– वनवासी। इसके बारे में डॉ. वीरभारत तलवार ने सही टिप्पणी की है कि 'वनवासी' शब्द इस जंगली का ही तत्सम रूप है, जैसे 'घर' का तत्सम 'गृह' है।[3] इसलिए अगर 'जंगली' की बजाय 'वनवासी' कहा जाता है तो भी इनके प्रति बनी गलत धारणा में कोई कमी नहीं आती है। असल में जब तक बाहरी आक्रमणकारियों, उपनिवेशवादियों को इससे कोई फर्क नहीं पड़ रहा था कि कौन आदिवासी (पूर्ववासी मूलनिवासी) है और कौन नहीं, तब तक वे आदिवासियों को उपेक्षा पूर्व ढंग से 'जंगली' कह सकते थे। लेकिन जब आदिवासियों मे सामाजिक–राजनैतिक चेतना का विकास हुआ तो वे अधिकारों की मांग करते–करते यहाँ तक पहुंच गये कि हम ही मूल निवासी हैं और जो हमारे संसाधानों पर अधिकार जमाये हुए है, वे बाहरी है। ऐसी स्थिति में बाहरी लोगों द्वारा इनकी पूर्ववत उपेक्षा संभव नहीं रह गयी और कुछ हद तक स्वीकार करने की मंशा से इन्हे 'वनवासी' पुकारा जाने लगा। उन्होंने अपने स्वार्थों की पूर्ति के लिए ही इनको 'वनवासी' पुकारा है, न कि किसी प्रेम से वशीभूत होकर। मैनेजर पाण्डेय ने ठीक कहा है कि ''आर्यों को मूल निवासी मानने वाले उन्हें आदिवासी के बदले 'वनवासी' कहना ज्यादा पसंद करते हैं। वस्तुतः वनवासी शब्द उनके प्रति किसी प्रेम का द्योतक नहीं है बल्कि एक खास राजनैतिक और भारतीय समाज व्यवस्था के इतिहास के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण के कारण हुआ है।'[4] इस 'वनवासी' शब्द से

आदिवासियों की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, अलग भाषा–बोली और खेतिहर संस्कृति का बोध कतई नहीं होता है।

अलग महत्वपूर्ण शब्द जिससे हिन्दी में आदिवासियों को पहचाना जाता है, वह है– 'जनजाति'। यह शब्द 'ट्राइब' का हिन्दी अनुवाद माना जाता है। भारतीय संविधान में डॉ. अम्बेडकर के आग्रह से 'आदिवासी' की बजाय 'जनजाति' शब्द अपनाया गया है। संविधान में 'जनजाति' की कोई परिभाषा भी नहीं दी गयी है। अनुच्छेद 342 के तहत कुछ समुदायों को जनजाति मान लिया गया है। श्यामाचरण दुबे का मानना सही है कि ''भारतीय संदर्भ में आदिवासी और जनजाति शब्दों की सूक्ष्म और संतोषजनक व्याख्या नहीं की गयी हैं।[5] उन्होंने कहा है कि 'जनजाति' शब्द कुछ अर्थों में भ्रामक है।''[6] 'जनजाति' शब्द का 'जाति' हिन्दू समाज व्यवस्था की 'जाति–व्यवस्था' (बेंजम लेजमउ) का बोध कराता है, जबकि आदिवासी समुदाय हिन्दू जाति–व्यवस्था से कहीं भी मेल नहीं खाते हैं। संविधान में जिन जनजातियों को अनुसूचित किया गया है, उनमें कई केवल इसलिए अनुसूचित हुई है क्योंकि वे आर्थिक रूप से पिछड़ा होना ही आदिवासी होना नहीं है। आदिवासियों की अपनी शासन–व्यवस्था, धर्म, रीति–रिवाज, संस्कृति और भाषा होती है। आंद्रे बेतेई भी मानते हैं कि जातियाँ मुख्य समाज की साहित्यिक भाषा का प्रयोग करती है, लेकिन आदिवासियों की अपनी अलग भाषा बोली होती है।[7] संविधान में अनुसूचित कई जनजातियाँ न तो मुख्यधारा के समाज से अलग हैं (जैसे, मीणा जनजाति) और न उनकी अलग संस्कृति और बोली–बानी है। वे पूरी तरह मुख्य धारा के समाज, हिन्दू समाज का हिस्सा बन चुकी है। यह साफ माना जा सकता है कि 'जनजाति' शब्द आदिवासियों की पहचान कराने में असफल है।

आदिवासियों को समझने के लिए की गयी इस शाब्दिक यात्रा से यह साफ होता है कि इनमें से कोई भी शब्द आदिवासियों के हर पहलु का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता है। अंततः 'आदिवासी' शब्द ही एक ऐसा शब्द है जो 'आदि समय' से और 'आदिम अवस्था' दोनों अर्थों का सही–सही प्रतिनिधित्व करता है। इस आधार पर हम उन कबीलों को आदिवासी मान सकते है, जो किसी क्षेत्र विशेष में ज्ञात जानकारी के अनुसार सबसे पहले की अवधि से निवास कर रहे हो, जो जीवनयापन

के संसाधानों के मायने में आत्मनिर्भर हो, जिनकी अपनी सामूहिक स्वामित्व वाली अर्थव्यवस्था हो, शासन–व्यवस्था हो'[8], जिनका अपना अलग धर्म, भाषा और संस्कृति आदि हो। आंद्रे बेतेई के शब्दों में यह मान सकते है कि आदिवासी समाजों में उत्पादन की जो भी पद्धति चाहे वह शिकार हो, वह खाद्य संग्रह हो, 'आदिम' खेती हो, सभी मे उत्पादन के संबंध समरूप होते हैं। उनमें उत्पादन की व्यवस्था की भिन्न स्थिति के आधार पर कोई सुस्पष्ट सामाजिक श्रेणियाँ नहीं होती है।'[9] आदिवासी राजनैतिक, भाषिक और मोटे तौर पर परिभाषित सांस्कृतिक सीमा के साथ नातेदारी पर आधारित एक ऐसा समाज है, जिसमें सामाजिक स्तरीकरण अनुपस्थित है।[10] आदिवासी समाज अपने–आप में बंद समाज होता है। भारत के प्रत्येक प्रांत में आदिवासी पाये जाते हैं। भारत के आदिवासी अपने रीति–रिवाजों और रहन–सहन में मुख्यधारा के समाज के काफी अलग है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि ये दूसरे क्षेत्रों के आदिवासियों से मेल खाते होंगे। भौगोलिक भिन्नता के साथ–साथ इनमें सांस्कृतिक भिन्नता भी पर्याप्त है। श्यामाचरण दूबे ने अपने मशहूर लेख 'आदिवासी धरोहर' में लिखा है कि ''जनजातियों के सामाजिक संगठन के स्वभाव और उसकी जटिलता में बड़ी भिन्नता पायी जाती है। .... भारत के अधिकांश भागों के आदिवासी समूहों में पुरूष की प्रधानता है और इनमें उत्तराधिकारी का निर्णय पिता की पंक्ति में होता है। इसके विपरीत दक्षिण और उत्तर पूर्व में उत्तराधिकार मातृधारा द्वारा निर्णीत होते हैं और पारिवारिक गठन मातृप्रधान होता है।''[11] श्यामाचरण दुबे ने इनकी सामाजिक भिन्नता को ही रेखांकित किया है। इस भिन्न्ता के कारणों पर उन्होंने यहीं ज्यादा विचार नहीं किया है। जो आदिवासी घने जंगलों और ऊँचे पर्वतों पर नहीं थे, वे लम्बे समय तक मुख्यधारा के समाज से अलग नहीं रह पाये। अन्य आदिवासियों की अपेक्षा इन पर बाहरी प्रभाव जल्दी और ज्यादा पड़ा। इनका बड़ा भाग जल्दी ही ईसाई धर्म से प्रभावित हुये तो बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश के आदिवासी हिन्दू धर्म के प्रभाव में आ गये। इन धार्मिक प्रभावों के चलते दूसरी कई अन्य सामाजिक भिन्नताएँ पैदा हो गयी। इस वजह से अब आदिवासी ही आदिवासियों को छोटा–बड़ा समझने लगे हैं। मुंडा अपने को उरांव से श्रेष्ठ मानते हैं तो उरांव अपने को संथालों से श्रेष्ठ समझते हैं, मीणा–जमींदार अपने को मीणा चौकीदार से अच्छा मानते हैं तो मीणा चौकीदार

भीलों को हीन समझते हैं, मध्य प्रदेश के गोंड अपने को अन्य गोंडों से अच्छा मानते हैं तो मालवा के भील झाबुआ के भीलों को हीन समझते हैं। इसी तरह मेघालय के खांसी और गारों अपने को आगामी आदिवासियों से श्रेष्ठ समझते हैं। इस तरह के कई उदाहरण हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि आदिवासियों में भी काफी आपसी असमानताएँ रही हैं।

आदिवासियों ने अपनी संस्कृति, भाषा अपने जीने की सामूहिक शैली, परम्पराओं और रीति–रिवाजों की विरासत को जिंदा रखा है। सारी प्रकृति उनकी सहचर है। पर विडंबना यह है कि आजादी के बाद से शासकीय गुट जनजातियों की सामाजिक संरचना को ध्वस्त करते रहे और उनके सामंजस्यपूर्ण जीवन में बाधा पहुंचाते रहे। आजादी के पहले भारत के मैदानी इलाकों के सूदखोरों, जमींदारों या व्यापारियों की जमात ने उन्हें खूब निचोड़ा और उन्हें जमीनों से बेदखल किया। अर्थात् आदिवासी जमात जितना बाहरी उपनिवेशवाद से प्रभावित हुई उससे भी ज्यादा वह आंतरिक उपनिवेशवाद एवं वर्चस्ववाद के कारण अपनी ही भूमि पर अल्पसंख्यक हुई या विस्थापितों की जमात बन गई।[12] दरअसल आदिवासियों के पास जंगल और जमीन न हो तो उस आदिवासी की पहचान ही खत्म हो जाती है। अंग्रेजों ने यही किया और आजादी के बाद हमारी सरकार ने भी यही नीति जारी रखी। अंग्रेजों ने अपनी राजस्व की नीति में स्थायी बंदोबस्ती की व्यवस्था थोपकर जमीन के अधिकार जमींदारों के हाथ में दे दिए और आदिवासी, जो सामूहिक रूप से पूरे गांव के मालिक हुआ करते थे, उनके रैयत–दर–रैयत बन गए। कालांतर में उनकी जमीन जमींदारों, सूदखोरों व गैर–आदिवासियों ने धोखे से हस्तांतरित कर ली और वे भूमिहीन खेतीहर मजदूर बनकर रह गए या बंधुआ बन गए। 'आदिवासियों को जमीनों और जंगल पर खुदकट्टी अधिकार प्राप्त थे, यानी पेड़ काटकर वे खेती लायक जमीन तैयार कर सकते थे, अब जंगल कटने से और सी. एन.टी. एक्ट, जिसमें आदिवासयों की जमीन के हस्तांतरण पर रोक का प्रावधान था, में संशोधन करके उनके जमीन का अधिकार ही खत्म किया जा रहा है। लाठा, छावन और जलावन की आपूर्ति हेतु उनके लिए जंगल में कूप सुरक्षित थे लेकिन अंग्रेजों ने जंगलों का वाणिज्यकरण कर दिया और भारत सरकार ने भी आजादी के

बाद उसी नीति का अनुसरण किया, जिसके कारण भारी संख्या में जंगल काटने के लिए ठेकेदार नियुक्त कर दिए गए और जंगल कट गए। जंगल कटने से, बांध बनने से कोयला खनन की ओपन काष्ट शैली अपनाने से सब खत्म तो हुआ ही, साथ ही सरकार द्वारा सन् 1979 सीमा निर्धारण व अन्य कानून बनाकर आदिवासियों के जंगल में प्रवेश पर रोक लगा दी गई, जिसने उन्हें पलायन पर मजबूर किया।'[13]

आदिवासी सस्ते मजदूरों की जमात बन गए और इसका फायदा बाहर के लोगों ने उठाया और इनके कंधों पर दासता का बोझ डाल दिया। इस प्रकार पूंजीपतियों के विकास व वन दमन के लिए आदिवासियों के विशाल जनसमूह को निस्सहाय बना दिया गया। राष्ट्रहित के नाम पर आदिवासी लोगों की जमीन की अधिग्रहित कर उन्हें विस्थापित ही नहीं किया गया, बल्कि उनके संदर्भ में संविधान में प्राप्त मूल अधिकारों का भी उल्लंघन किया गया। इन विकास परियोजनाओं से इन आदिवासी प्रदेशों अथवा क्षेत्रों का आर्थिक संतुलन भी बिगड़ गया। इतना ही नहीं, 'सरकार 1998 में कई प्रकार के बिल ले आई। भूमि अधिग्रहण संशोधन विधेयक तो बहुराष्ट्रीय कंपनियों को जल्दी से जल्दी मनमानी जमीन दिए जाने हेतु ही लाया गया। अर्थात् विस्थापन की प्रक्रिया देश में तेज कर दी गई, जिससे सस्ते मजदूरों की एक बड़ी जमात पूंजीपतियों को उपलब्ध हो सके।'[14]

अभिव्यक्ति की ताकत अगर मनुष्य को पशु से भिन्न बनाती है तो साहित्य उसे दिशा देता है और अहसास दिलाता है कि वह मनुष्य अकेला नहीं बल्कि एक समाज का अंग है और प्रतिबद्ध साहित्य समाज को गतिशील बनाता है– 'जड़ नहीं। समृद्ध, सशक्त समाज की पहचान उसके समय के साथ खुद को बदलने की क्षमता में होती है, न की जड़ बन कर समय को बांध देने में। आज तक आदिवासी समाज को खास कर भारत में, तथाकथित धार्मिक हिन्दू कट्टरवादियों, मैदानी मध्यवर्गीय मानसिकता वाले समुदाय ने जो जातीय दंभ से लैस भी रहा, दायरे से बाहर आने ही नहीं दिया। उन्होंने न तो इन्हे विकसित होने दिया और न ही अपने में समाहित होने दिया यानी जीवन्त मनुष्य एक जंगली मनुष्य के फ्रेम में मढ़ दिया गया,जो उनसे अधिक संवेदनशील, अधिक कलात्मक, उदार, उदात्त, सहनशील,

सरल है ताल–लय, स्वर में पारंगत है और वह जीवन का व्यापार नहीं करता, बस जीने के नियम जानता है। हर विपरीत स्थिति में जीता है– प्रकृति की आपदा को सहता है पर प्रकृति को नष्ट नहीं करता, उसको पालता–पोसता है जबकि मैदानी मनुष्य प्रकृति को नष्ट करता आया है।'[15]

देश में आदिवासियों की मुख्य समस्या हमेशा से ही विस्थापन रही है। वह पहले भी खदेड़े जाते थे और आज भी खदेड़े जाते है। केवल तरीका बदल गया है। पहले वे एक जंगल से दूसरे जंगल में जाते थे, लेकिन आज या तो जंगल कट गए हैं या उनमें उनके प्रवेश पर रोक लग गई और वे जंगल की उपज के अधिकारों से वंचित कर दिए गए हैं। विकास के नाम पर विस्थापित कर जंगल और जल तीनों से वंचित कर उसे जंगलों से बाहर खदेड़ा जा रहा है। 'दरअसल आदिवासी अपने श्रम के बल पर सदैव आत्मनिर्भर और स्वावलम्बी रहा है। अपने समूह और समाज से जुड़कर, प्रकृति का साथी बनकर जीना उसकी शैली और स्वभाव रहा है। वह प्रकृति से संवाद करता चलता है, उसका सहयात्री है, उसको गाय की तरह वह पोसता और दुहता है। उसे कब्जे में लाने का कभी भी उसका लक्ष्य नहीं रहा। प्रकृति के प्रकोप को वह सहता है, सहता रहा है और रोकता भी रहा है। उसके मुकाबिल खड़ा भी होता रहा है। पर सदैव उसका मित्र बना रहता है, प्रतिशोध की भावना से भरकर वह प्रकृति को नष्ट नहीं करता। वह उसे रिझाता है, मनाता है और केवल जीने भर, जरूरत भर उससे लेता है पर बदले में देता भी है अपना प्यार, अपनी देख–रेख और अपनी संवेदना।'[16]

6.2. आदिवासी समाजः संघर्ष एवं प्रतिरोधः–

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। बिना यह सामाजिकता विकसित हुए यानी की बिना अन्य मनुष्यों के साथ विभिन्न स्तरों पर सम्बन्ध और सम्पर्क विकसित किए, वह न तो भौतिक उत्पादन कर सकता है न ही जीवित रह सकता है। अपनी विकास प्रक्रिया में मनुष्य ने जब स्वयं को पशु–साम्राज्य से नये तरह के श्रम–साधानों के आधार पर अलग किया तो एक नये तरह के समुदाय का विकास होना शुरू हुआ। यह नया समुदाय था– कबीला। 'कबीला एक छोटा समूह होता है,

जिसमें लोग रक्त–संबंध के आधार पर एक–दूसरे से जुड़े होते हैं। एक ही पूर्वज से उत्पन्न। शुरूआत में जब मातृप्रधान कबीले थे, यह पूर्वज महिला होती थी लेकिन वक्त के साथ बदलती भौतिक स्थितियों के चलते पुरूषप्रधान कबीले बन गए। कबीले की सामाजिक संरचना में सरंक्षक पूर्वज का स्थान महत्वपूर्ण होता था। कबीले के सभी सदस्यों की भाषा, रहन–सहन, विश्वास, रीति–रिवाज और संस्कृति समान होती थी। उनकी अर्थव्यवस्था सम्पत्ति के सामूहिकीकरण पर आधारित थी, जिसके उत्पादन पर समुदाय के सारे सदस्यों का बराबर का अधिकार होता था। संख्या में वृद्धि के चलते ढेर सारे कबीले निर्मित होते गए, सो अब एक नई सामुदायिक संरचना का विकास होने लगा जो कि ऐतिहासिक अनिवार्यता भी थी।'[17] यह सामुदायिक संरचना थी 'ट्राइब' जिसे हिन्दी में आदिवासी शब्द से व्यवहृत किया जाता है। इसके अतिरिक्त देशज, मूल निवासी, जनजाति आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जगन्नाथ पाथी ने भारत के विशेष संदर्भ में इन शब्दों के प्रयोग पर लिखा है कि, ''भारत के आदिवासी देशज लोग हैं या नहीं, इस बात का उनके लिए उपयोग किये जाने वाले शब्दों की सटीकता से कोई फ़र्क नहीं पड़ता क्योंकि आदिवासियों और देशज लोगों की समकालीन समस्याएँ और संघर्ष एक से है।''[18]

विश्व समुदाय अथवा भारतीय समाज में आदिवासी एक ऐसा मानव समाज है, जो विकास की प्रक्रिया से दूर आज भी अपनी पुरानी 'जनजातीय' जिंदगी में सिमटा हुआ है। 'मानव और संस्कृति' में आदिवासियों के जीवन, उनकी विशेषताएं और सभ्य समाज से उनके संबंधों की चर्चा करते हुए श्यामाचरण दुबे ने इस बात की ओर संकेत किया है कि 'नीग्रिटों, प्रोटो– ओस्ट्रेलियड और मंगोलायड प्रजातियों के अंतर्गत आने वाला प्रायः सम्पूर्ण 'आदिवासी समाज' ही एक ऐसा समाज है, जिसने अपनी विशेषताओं को ऐतिहासिक प्रभावों और आर्थिक–सामाजिक शक्तियों से बहुत हद तक बचाये रखा है।'[19] अपनी अस्मिता और शेष समाज से अलग रहने के कारण 'आदिवासी समाज मुख्यधारा के चरित्रों के अंदर आ रहे दुर्गुणों से मुक्त रहा, लेकिन इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि विकास की प्रक्रिया से दूर रहने के कारण वह शेष समाज से अलग–थलग पड़ता गया तथा एक समय ऐसा आया जब

उनकी अस्मिता ही खतरे में पड़ गई। अपनी जीवन–शैली की जिन विशेषताओं को बचाने के लिए वे मुख्यधारा के समाज से दूर रहे, धीरे–धीरे वैज्ञानिक युग के अधिकतम विकासों ने उनकी उन सारी संरचनाओं को छिन्न–भिन्न कर दिया तथा धीरे–धीरे उनके अंदर भी वे दुर्गुण आने लगे, जिनसे बचने की कोशिश वे अब तक करते आ रहे थे।'[20] वैज्ञानिक और औद्योगिक विकास ने उनकी आर्थिक और सामाजिक जिंदगी में गहराई से हस्तक्षेप किया तथा मुख्यधारा की इस कोशिश ने उनके जीवन और दृष्टिकोण में बुनियादी परिवर्तन लाये। उनके जीवन को बदलने में ईसाई मिशनरियों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही, परन्तु उसका दूसरा पहलू उनका अपना वही धार्मिक दृष्टिकोण रहा है, जो अपने मतावलंबियों की संख्या बढ़ाने के लिए कोई भी धार्मिक अथवा सामाजिक समुदाय करते रहते हैं।[21]

समकालीन हिन्दी कहानी में आदिवासी समाज को लेकर जो कहानियाँ लिखी गयी हैं, उनका विषय और क्षेत्र, दोनों ही बहुत सीमित हैं। 'उनमें एक तरफ जहाँ विकास की प्रक्रिया से टकराते आदिवासी समाज के जीवन–संघर्ष का चित्रण है, तो दूसरी तरफ स्त्री–जीवन की मार्मिकता और उससे उत्पन्न उनके विडंबनापूर्ण जीवन का यथार्थ रूप, जो इस बात की ओर संकेत करता है कि खुला समाज होने के बाद भी आदिवासी स्त्रियाँ अपने ही समाज में शोषित और उत्पीड़ित है।'[22] संजीव की कहानी 'प्रेतमुक्ति' हमें आदिवासी जीवन के सत्य से परिचित कराती है। इस कहानी में संजीव ने दिखाया है कि किस प्रकार गांव के सांमत अपने क्षेत्र के आदिवासियों और उन्हें दिये जोन वाले संसाधानों का अपने हित में प्रयोग कर लेते हैं तथा विरोध करने वालों की अमानवीय तरीके से हत्या– ''अब उसने हाथ की पर्ची डॉ. मुर्तजा की ओर बढ़ा दी। डॉ. मुर्तजा ने आज्ञाकारी गुलाम की तरह विकासुल, सेंटीविनी और दूसरी दवायें– टॉनिक वगैरह को एक खाली कागज के बॉक्स में भरने लगे....।''[23] यहाँ कहानी में स्पष्ट दिखाई देता है कि डॉक्टर जैसे लोग भी इन सामंतों से इतना अधिक डरे हुए हैं कि उनकी भाषा इन सांमतों के सामने किसी गुलाम की तरह लगती है। डॉ. मुर्तजा जान बूझकर इस प्रकार का व्यवहार नहीं कर रहे हैं बल्कि यह उनकी मजबूरी है। संजीव की यह कहानी अपनी पूरी संरचना में आदिवासी जीवन और उनसे जुड़े लोगों के अंतः संबंध और

उससे उत्पन्न एक ऐसी सामाजिक व्यवस्था की ओर संकेत करती है, जिसमें आदिवासी समाज पूरी तरह से डरा और सहमा हुआ है। प्रशासन की कमजोरी और असमानता आदिवासियों को कभी भी न्याय नहीं दिला पाती है। 'प्रेतमुक्ति' कहानी का एक अन्य पात्र बूधन कहता है कि, ''सारे इलाके की खेती, ढोर–डांगर, पशु–पाखी–इदमी, तड़प–तड़प के मरेगा,''[24] यहाँ गाँव का मुखिया नदी में बांध–बांधकर पानी को अपने खेतों की ओर ले जाता है। परिणामतः इलाके की सारी हरियाली मुखिया के खेतों में आकर सिमट जाती है। देवेन्द्र कुमार चौबे 'समकालीन कहानी का समाजशास्त्र' में लिखते हैं कि, वही आदिवासी जो कभी खेतिहर किसान थे, धीरे–धीरे मुखिया के यहाँ खेतिहर मजदूर हो जाते हैं। उनके शोषण और विकास के मार्ग को अवरूद्ध करने की प्रक्रिया यहीं आकर समाप्त नहीं हो जाती हैं, बल्कि धीरे–धीरे ये आदिवासी भूमिहीन होकर शहरों में आते हैं तथा रिक्शा खीचने अथवा मजदूरी करने को विवश हो जाते हैं, इसके बाद भी उन्हें और उनके परिवार को भरपेट खाना नहीं मिल पाता है। अन्न के अभाव में इनके घर की स्त्रियाँ मुखिया के यहाँ काम करती है तथा न चाहते हुए भी जबरदस्ती उनके शोषण का शिकार होती है।

संजीव की एक अन्य कहानी 'पांव तले की दूब' में आदिवासी समाज का संघर्ष दो समानांतर धाराओं में होता दिखलायी पड़ता है– पहला, आदिवासी समाज के अंदर का विरोधात्मक संघर्ष और दूसरा अपने अधिकारों के लिए देश की प्रशासनिक व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष। संजीव ने इस कहानी में आदिवासी समाज द्वारा किये जा रहे जिस आंदोलन को उठाया है, उसका मुख्य कारण उन्हें अपनी ही भूमि से बेदखल करना रहा है। सरकार ने औद्योगिक विकास के नाम पर उनकी जमीनें तो ले ली, परन्तु बदले में जो दिया, वह इस लायक नहीं था कि वे एक व्यवस्थित जिंदगी गुजार सकें। सुदीप्त द्वारा, प्रबंधन के सामने उनके जीवन को सुधारने के लिए दिया गया सुझाव इसलिए हास्यापद बन जाता है कि न तो सरकार को उनकी समस्याओं में रूचि है और न ही स्थानीय प्रबंधन को। और उनमें से कोई व्यक्ति, जब इसमें रूचि लेना शुरू करता है, तब उसे तरह–तरह की उपाधियों से विभूषित कर, उसे अपमानित किया जाता है। सुदीप्त के जोरदार

विरोध पर, जब आरक्षित कोटे में एक आदिवासी युवक कालीचरण किस्कू को बहाल किया जाता है, तो उसकी गलतियों के लिए सुदीप्त को ही दूसरे अधिकारी दोषी ठहराते हैं, ''प्रसाद कान्ट यू मेन्ड यूओर मानस पुत्रा?'' (प्रसाद क्या तुम अपने मानस पुत्र को सुधार नहीं सकते?) और सिन्हा साहब किस्कू के बहाने सभी आदिवासियों में खोट निकालने लग गये...।''[25] न पढ़ाई–लिखाई, हुनर, अनुभव से मतलब न देश से, बस खुराफतें करते रहेगें। कौन कहता है कि ये निरीह है? मुझे आदमी चाहिए, काम का आदमी। मैं आदिवासियों का उद्धार करने नहीं आया यहां।''[26] स्पष्ट है कि सुदीप्त जैसे लोगों, जो आदिवासी समाज के प्रति गहरी हमदर्दी रखकर, अपने ही समाज में हास्यापद बन जाते हैं। संजीव ने इस कहानी में आदिवासी प्रांत मे हो रहे झारखण्ड आंदोलन के सवाल पर गहराई से विचार किया है और दिखलाया है कि किस प्रकार यह आंदोलन गलत लोगों के हाथों में पड़कर बिखर गया है। हंसदा, मांझी, हड़ाम, फिलिप और कालीचरण किस्कू इस आंदोलन के चार सूत्रधार है। हंसदा का प्रयोग अनोखा है। वे आदिवासियों के हक की लड़ाई उन्हीं के बीच रहकर लड़ते हैं और उनके खेतों पर जबरन कब्जा किये महाजनों के सामने ही तीर–धनुष, कुल्हाड़ी और हंसिये के सहारे फसल काट लेते हैं।''[27] हंसदा को लगता है कि अपना हक इसी प्रकार लड़कर और छीनकर प्राप्त किया जा सकता है। मांझी हड़ाम आंदालेन की इस प्रक्रिया से दूर नहीं है और वह भी अपने सामने एक आदर्श रखकर झारखण्ड की लड़ाई लड़ रहा है।'[28] हंसदा और मांझी, हड़ाम– दोनों पात्र पुरानी पीढ़ी के है तथा उनके मन में बाहरी समाज के प्रति कोई दुर्भावना नहीं है। इन दोनों में फिलिप समझदार है तथा वह संवेदनात्मक रूप से आदिवासी समाज के विकास से जुड़ा हुआ है। इसके लिए वह सांस्कृतिक स्तर पर भी हो रहे पहल में भाग लेता है तथा नाटकों और आंदोलनों के माध्यम से आदिवासी समाज में बेरोजगारी, सामंतो द्वारा आर्थिक शोषण, अंधविश्वास इत्यादि जैसी समस्याओं से लड़ता है।[29] लेकिन जब उसे लगता है कि झारखण्ड आंदोलन से गहरा लगाव और मेहनत के बाजवूद इस आंदोलन को सही दिशा नहीं दे पा रहा है तो वह उदास और हताश हो जाता है। उसे महसूस होने लगता है कि यह आंदोलन गलत लोगों के हाथों में पड़ गया है तथा आपसी संघर्ष पूरे समाज को तहस–नहस करके रख देगा।

प्यारे केरकेट्टा की कहानी 'बेरथअ बिहा' (बेरथा का ब्याह) वर्षों पहले लिखी गई उस आदिवासी समाज की कहानी है जो धर्म परिवर्तन के बाद भी अपनी संस्कृति को कायम रखता है क्योंकि संस्कृति को वह धर्म नहीं मानता– जीने की शैली मानता है। ये कहानी आज भी प्रासंगिक है। क्योंकि आदिवासी पहले आदिवासी है ईसाई या हिन्दू बाद में। ऐसे हिन्दू तो वह कभी रहा ही नहीं। इसी कहानी में पहाड़ पर गाये जा रहे पाडू की आवाज से आदिवासी युवितयों का मन खासकर प्रत्यक्ता औरतों का मन विचलित हो उठता है। कहानी की नायिका जवाब में जो गीत गाती है, वह भी लड़की से छोटे दूल्हा होने की परम्परा का प्रतीक है जो आज भी उस समाज में कहीं–कहीं हो रहा है। उसकी पंक्तियां– ''कब तक युवक तुम जवान होंगे। तुम्हारी दाढ़ी मूंछे उगेंगी। मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करूंगी'' उनकी दूसरी कहानी 'लादरो समेधी' आदिवासियों में व्याप्त नशाखोरी की आदत का व्यंग्यात्मक चित्र है। यह आज भी प्रासंगिक है क्योंकि इसी नशे के कारण जिसे हिन्दू धर्म ने आदिवासियों के लिए देवता का प्रसाद करार कर दिया, वह पिछड़ा है।'[30]

दिनानाथ मनोहर की कहानी 'स्थित्यन्तर' का नायक भुन्या बाबा है, जो सामंतो द्वारा आर्थिक और सामाजिक शोषण के खिलाफ आवाज उठाता रहा है। अपने इसी व्यवहार के कारण उसे दस सालों तक जेल भी काटना पड़ा है। लेकिन आज भी उसके 'गंडासा' की धार कम नहीं हुई है जिससे उसने गिरधारी के बेटे का हाथ फट से काट दिया था। उसके जेल जाने के बाद भी वर्षों तक उसका गांव आज भी उसे भील जाति का नायक समझता है। गांव वाले अब भी यही मानते हैं कि भुन्या बाबा हमें गिरधर पाटील के अत्याचार से निजात दिला पाएगा, ''भुन्या! गांव तुम्हारे हुक्म से बाहर नहीं जाएगा। इस गांव के भीलों ने कभी किसी से मां–बहन के नाम पर गाली नहीं सुनी। भुन्या, बस तुम्हारे इस 'गंडासे' की ताकत पर तुमने इशारा किया और हम पीछे हटे, क्या ऐसा कभी हुआ है? हम पर भरोसा नहीं रहा, यूं चुप क्यों हो तुम?''[31] हालांकि इतने वर्षों बाद परिस्थितियाँ अब वैसी नहीं रह गयी है, जैसाकि पहले हुआ करती थी। गिरधर पाटील की जमीन–जायदाद बढ़ती जा रही थी। गाँव के लोगों से कुछ पैसे कर्ज देकर जमीन

हड़पता जा रहा है। पैसे भी सहकारी बैंक से दिलवाता था। जहाँ सूद तय था। कर्ज तो मिल जाता था, पर बैंक आदमी को नहीं पहचानती थी, केवल बैंक को कुछ बंधक के रूप में जमीन जायदाद देना पड़ता था। हर महीने बस किश्त भरनी होती थी। गिरधर पाटील यह सब काम बड़ी चालाकी से करता गया। किसी भी कार्य की कोई लिखा–पढ़ी नहीं हुई और न ही किश्त की रसीद मिली गाँव के लोगों को, ''साहब ये क्या चल रहा है? इस गाँव की भिलारी की जमीन पाटील के पास जायेगी नहीं।.... बाबा तुम्हारे लोगों ने किश्ते नहीं भरीं। बैंक ने नोटिस दी, वसूली के लिए आदमी भी भेजे, एक पैसा तक नहीं भरा.... साहब झूठ मत बोलो, तुम्हारे आदमी को पैसे दिये हैं, पूछो इस गिरधर पाटील से.... ''भुन्याबाबा अरे यह तो सरकारी काम है! यह जमीन क्या मुझे मिलने वाली है या इस मैनेजर साब की?.... सरकारी नियम है और नियमानुसार, कानूनन जमीन की नीलामी करनी ही पड़ेगी।''[32] स्पष्टः है कि व्यवस्था बदल गयी है, शोषण के तरीके बदल गये हैं। सामने कोई एक व्यक्ति नहीं है जिसका वह हाथ काटकर शोषण रोक देता। प्रजांतत्र के नाम पर शोषकों की पूरी की पूरी जमात खड़ी है जो जनता से कटी है पर संगठित है, इसलिए जनता से बड़ी है। आदिवासी का अपना प्रजातांत्रिक तरीका है जो जन और जड़ से जुड़ा था खत्म कर दिया गया है और बस बाकी रह गया है, रिश्ता–केवल शोषक और शोषित का। यह सीधा–साधा आदिवासी मन भौंचक्का है। वह नहीं जानता कि अपनी जमात को किसके खिलाफ ललकारे। उसकी जमात पुलिस की गाड़ी में पीट–पीटकर चढ़ा दी जाती है। वह बूढ़े शेर की तरह गुर्रा कर रह जाता है, अकेला, अपने गंडासे के साथ और सवेरे उसकी लाश मिलती है।

दिनानाथ मनोहर की एक अन्य कहानी '..... और जंगल शांत हुआ' आदिवासियों के अपने बदलते हुए समाज की कथा है जो अतीत को भूल नहीं रहे हैं या जो समय के साथ बदल नहीं पा रहे हैं और अतीत की यादों को संजोये खत्म हो रहे हैं यानी एक पूरी पीढ़ी खत्म हो रही है। कहानी का नायक वंकाबाबा ढोल बजाने में पारंगत है। जब अतीत में वह ढोल बजाता था तो पूरा–का–पूरा गाँव, जंगल में जुट जाता था और सबकी आँखों में बस एक ही भाव होता था– प्रशंसा का भाव, उसकी महारत पर गौरवान्वित होने का भाव, ''कितने दूर–दूर से

ढोल आये थे और प्रत्येक ढोल के साथ गांव के जवान लड़के–लड़कियाँ बड़े से मैदान में दूर तक जगह–जगह घेरा बनाकर बिखरे थे। ..... पर वंकाबाबा का ढोल बजता ही रहा। ठिच्चावं–ठिच्चांव, ठिच्चांव .... च्चांव.... च्चांव।.... वंकाबाबा को कंधे पर उठाकर गाँव वाले नाचते हुए मंत्री के पास गए। वाजा खुद आगे बढ़े और वंकाबाबा के गले में फूलों की माला डाल दी।''[33] पर अंतराल में ढोल का स्थान बैण्ड–बाजे ने ले लिया है। पहले वाली बात नहीं रह गई। अब वंकाबाबा के ढोल को कोई सुनना नहीं चाहता है, ''सच कह रहा है संभू! अरे वंकाबाबा को कोई नहीं जानता। इसका ढोल बजने लगा कि सारा गांव इकट्ठा होता है। वंका ढोल बजाएगा।''[34] वंकाबाबा के अपने ही पोती की शादी है। उसका अपना बेटा ही उसे ढोल बजाने के लिए आमंत्रित नहीं करता । वह बैंड ले आता है। दो दिन पहले ही उसने अपने फटे ढोल को शादी में बजाने के लिए मोची से सिलवाकर तैयार कर लिया था। बारात आ गई है– बैंड–बाजा बजने लगा। जब बूढ़े को बुलावा नहीं आता शादी के घर तो वह ढोल उठाकर बजाते–बजाते जंगल में पहुँच जाता है, जहाँ कभी पूरा गांव जुट जाया करता था उसके गिर्द। जंगल ढोल की थाप से धमक उठता है और फिर जंगल शांत हो जाता है। ये कहानियाँ आदिवासियों की पीड़ा और दर्द के साथ–साथ उनकी जड़ों से जुड़े रहने की त्रासदी की कथाएं भी हैं और समय को पकड़ने का आग्रह दर्शाती है।'[35]

भालचंद्र जोशी की कहानी 'पहाड़ों पर रात' दिखाती है कि आदिवासियों के विकास के लिए गठित विभाग और उसमें कार्य करने वाले लोग, इन भोले–भाले आदिवासियों के विषय में क्या सोचते हैं तथा उनकी संवेदना के साथ किस प्रकार का भद्दा मज़ाक करते हैं। जिस ढंग से सरकारी कर्मचारी इनके साथ व्यवहार करते हैं तथा इनका माजक उड़ाते हैं, वह इस बात को निश्चित नहीं करता है कि उन्हें सहायता मिल जाएगी। बूढ़ा आदिवासी जिस तरह दौड़–भाग करके अपना आवेदन–पत्र लिखवाता है तथा सरकारी अधिकारियों के आश्वासन पर रोज जाकर दफ्तर के बाहर खड़ा हो जाता है, उसे देखकर यही लगता है कि प्रशासन द्वारा उनके साथ कितना भद्दा मजाक किया जा रहा है, 'डूबी कहां लगुन जड़ी जासे?'' (तो भैंस कब तक मिल जाएगी?)'' हम जाते ही कार्यवाही करेंगे। भैंस तो समझो

मिल गई।'' मेरे बोलने से पहले ही विजय ठहाका लगाकर हंस दिया और बोला, ''तेरी भैंस की फिक्र तो हमारे बी.डी.ओ. साहब को तेरे से ज्यादा है। अबकी गर्मियों में उनको अपनी बेटी की शादी करनी है।''[36] सरकारी कर्मचारी के बात करने का ढंग स्पष्ट कर देता है कि उस गरीब आदिवासी को अब भैंस कभी नहीं मिल पाएगी। क्योंकि विजय जिस ढंग से ठहाका लगाकर हंसता है तथा बी.डी.ओ. की बेटी की शादी की बात करता है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि आदिवासियों के विकास के नाम पर आये पैसे कहाँ जाते हैं? सरकारी कर्मचारी भी इस बात को मानते हैं कि, ''हर महीने हमलोग 'प्रोग्रेस–रिपोर्ट' भेजते हैं।.... लेकिन प्रोग्रेस कहां हुई? इन आदिवासियों के टपरों के कवेलुओं का रंग तक नहीं बदल''[37] देश की प्रशासनिक व्यवस्था, इन्हें अपने समाज का हिस्सा नहीं मानती है, क्योंकि यदि ऐसा होता तो इनकी हालत अब तक इतनी खराब नही रहती। इनके आसपास के लोग इतने चालाक और धूर्त होते हैं कि ये उनकी नियति को भांप नहीं पाते हैं और जब तक समझते हैं, तब तक काफी देर हो चुकी होती है।

रामधन लाल मीणा की 'अप्रत्याशित' कहानी का नायक राजूलाल न्याय पाने के लिए अपना सब कुछ लगा देता है। जब तगावी की उगाही चल रही थी उसने लोगों को लाख समझाया कि मैंने तगावी भर दी है, लेकिन किसी ने विश्वास नहीं किया कि पिछली रकम भर दी है। ये रसीद गुम हो जाने से वह सबूत नहीं दे पाया था और सरकार के विशेष उगाही का कार्यक्रम होने से उसे फिर से रकम भरनी पड़ी थी। आज उसे रसीद वापस मिल गई है। इसीलिए वह रसीद लेकर पटवारी के वापस जाता है ताकि उसे उसका अतिरिक्त दिया गया धन वापस मिल जाए पर इसका होता ही उल्टा है, ''मैंने जो तगावी के पैसे दिए और पिछले महीने फिर भरना पड़ा उसी की रसीद मुझे मिल गई है।'' ''तो उसे फाड़ के फैंक दो, यहाँ क्या मेरे सर चढ़ाने लाए हो।'' ....''लेकिन पटवारी जी यह तो अन्याय है।'' ''हाँ अन्याय है जो तुझसे हो सके कर लेना, मेरी माथा– पच्ची मत कर, हट यहाँ से दूर।''[38] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि राजूलाल का यह सोचना कि रसीद दिखाकर उसे उसके हक के पैसे पटवारी से वापस मिल जाएंगे, गलत साबित हुआ। यह बात बढ़ते–बढ़ते इतनी बढ़ गई कि राजूलाल को न्याय के लिए सब

कुछ दांव पर लगाना पड़ गया परन्तु अंत मे वह भी व्यवस्था के आगे हार जाता है। वह गाँव छोड़कर चला जाता है। उसका बेटा प्रीतम जो चुपचाप सब कुछ देखता है, अन्याय सहन नहीं कर पाता, वह भी गांव छोड़ देता है। कोर्ट में केस लड़ते–लड़ते राजूलाल की आर्थिक दशा बिगड़ती चली गई, ''वह यह केस कैसे आगे लड़ सके ऐसी उसकी शक्ति भी क्षीण हो गई और ऐसे भी राजूलाल एक दरिद्र आदमी बन गया। ..... प्रीतम यह नाटक अपनी नग्न आंखों से देखता रहा था। उसे वह सहन नहीं कर पाया। ..... आखिर वह इतने कर्ज कैसे चुका पाता?''[39] सरकार और प्रशासन द्वारा किया जा रहा है शोषण आदिवासी समाज की नियति बन चुका है और चाहकर भी ये उससे मुक्त नहीं हो पाते हैं। अगले दिन एक साथ तीन गोलियां चलती हैं, गांव के तीन लोग–पटवारी और उसके दो साथी मारे जाते हैं। ये अप्रत्याशित घटना आगे आने वाली पीढ़ी के अप्रत्याशित कदमों का संकेत दे जाती है जिनका गुस्सा बोली मे न उतर कर, हाथों में उतर आ रहा है।

आज तक आदिवासी अपने शोषण का मूक दर्शक बना रहा है। महाजन, ठेकेदार, दलाल, दिकू, राजा नवाब या मैदानी लोग, सब उसके जंगलों को और उसकी औरतों को लूटते रहे हैं। उसका रोजगार छीनते रहे हैं। विस्थापन उसकी जिन्दगी का ढर्रा बना दिया गया है। आजादी के बाद देश के विकास का हर कार्यक्रम आदिवासी की कीमत पर हुआ है। विकास की कीमत वह अपने विस्थापन से अदा करता रहा है। उसके खेत खदानों में बदल गए और जंगल लकड़ी की टीलों में समा गए या कुर्सियों, मेजों और फर्नीचर में बदल गए। जमीन जोतने वाला आदिवासी ईंट थापने या मिट्टी काटने वाला मजदूर बन गया। इनकी औरतें ठेकेदारों के ऐशो– आराम का हिस्सा और उनके बराहिलों की बर्बरता की शिकार होने लगी। लेकिन अबग्रेस कुजूर के शब्दों में विद्रोह कर रहा है आदिवासी मानस। अब शाखें, नदियां, झाड़ियां, देह, बाहें, गलियां और नसें कमान बन चुकी हैं और कोपलें, पर्वत, बिखें, आहें, अंगुलियां, आंगन और लहू–तीर बन गए हैं।..... यह उनकी अस्मिता का विकास ही नहीं बल्कि उनके बदले हुए आदिवासी स्वर का द्योतक है। ये केवल आनन्द नहीं बल्कि 'उलगुलान' का स्वर बनने की प्रक्रिया है।[40]

6.3 आदिवासी समाज में स्त्रियाँ

जब आदिवासी समाज में स्त्रियों की बात होती है तो ऐसा माना जाता है कि आदिवासी स्त्रियाँ अन्य समाज की तुलना में अधिक स्वतंत्र होती हैं। लेकिन बिटिया मुर्मू ने लिखा है कि– ''भारत की संस्कृति में महिलाओं की जो स्थिति है आदिवासी संस्कृति की स्थिति उससे बहुत भिन्न नहीं है। आम धारणा है कि आदिवासी महिलाएँ अधिकार सम्पन्न तथा बराबर की हकदार है, किन्तु ऐसी बात नहीं है।''[41] अर्थात् वस्तुस्थिति कुछ और ही है। दरअसल आदिवासी समाज सामूहिकता और समानता में विश्वास रखता है। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व आदिवासी समाज सामूहिकता और समानता में विश्वास रखता है। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व आदिवासी समाज में स्त्रियाँ सभ्य और सुसंस्कृत कहे जाने वाले समाज से ज्यादा स्वतंत्र होती थी। लेकिन अंग्रेजों के आने के पश्चात् धीरे–धीरे उस सामूहिकता का टूटन हुआ। उस सामूहिकता के टूटन में पितृसत्तात्मक व्यवस्था को और भी मजबूत करने का वैधानिकरण अंग्रेजों ने राजस्व की नीति लागू कर के कर दिया। अंग्रेजों के पहले आदिवासी समाज में सम्पत्ति नाम की कोई अवधारणा नहीं थी। आदिवासी समाज में भी स्त्रियों का शोषण करने के लिए विभिन्न तरह के तर्क पितृसत्तात्मक व्यवस्था ने बनाए हैं। समाज ने स्त्रियों को कुछ काम करने से मना किया, उसके लिए पुरूषसमाज ने यह तर्क दिया है कि शारीरिक, बनावट के आधार पर यह विभाजन किया गया है। यह अजीब विडंबना है कि सभ्य समाज और मुख्यधारा के व्यक्तियों की नजर में उन्मुक्त और स्वच्छंद प्रवृत्ति की होने के कारण उनके द्वारा थोड़ा–सा आश्वासन मिलने के बाद ही वे अपना सबकुछ सौंप देती है और आशा करती हैं कि सभ्य समाज अथवा मुख्यधारा का व्यक्ति उन्हें अपने जीवन में शामिल कर लेगा तथा उन्हें वही मान और सम्मान प्रदान करेगा, जो कि एक मुख्यधारा की स्त्रियाँ प्राप्त करती है। परन्तु उनका यह भ्रम होता है, क्योंकि मुख्यधारा का जो भी व्यक्ति उनके साथ प्रेम का नाटक करके जाता है, वह फिर कभी वापस नहीं लौटता है। दूसरी ओर उन्हें व्यभिचारिणी करार देकर अपना समाज उन्हें जनजातीय जिंदगी से बाहर निकाल देता है। परिणामतः वे दोनों ओर से उपेक्षित और प्रताड़ित होकर हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने को विवश हो जाती है।[42] मनीष राय ने

'शिलान्यास', अरूण प्रकाश ने 'बेला एक्का लौट रही हैं', संजीव ने 'दुनिया की सबसे हसीन औरत', ललित शाह ने 'गुरमा' राकेश वत्स ने 'अवशेष' आदि में आदिवासी स्त्री की विवशता का मार्मिक चित्रण किया है। इन कहानीकारों ने दिखलाया है कि अपनें उन्मुक्त स्वभाव और स्वच्छंद प्रकृति के कारण, मुख्यधारा का समाज इनके विषय में यह मानकर चलता है कि ये सभी, सम्पन्न पुरूषों कों उसी तरह अपना सकती है, जैसा कि एक काल–गर्ल्स अथवा वेश्या।

संजीव की कहानी 'दुनिया की सबसे हसीन औरत' ओरांव जनजाति की महिला के जीवन–संघर्ष को दर्शाती हैं, जो सब्जियों बेचकर अपना गुजारा करती है। ट्रेन में टी.टी. पुलिस और यात्रियों के नखरे उसे बारा–बार सहन करने पड़ते हैं। पुलिस वाले परेशान करते हैं और मुफ्त में सब्जियां उठाकर ले जाते है। वह चुपचाप रो–रोकर अपने आँसुओ को पीने की कोशिश करती है। बार–बार होने वाला यह अपमान उसे अंदर ही अंदर छलनी करने लगता है। ऐसे में बोला गया हमदर्दी बड़ा शब्द भी उसे कॉंटे की तरह चूभन पैदा करता है, ''का हुआ बहिनी?''.. ....''बहिनी.....बहिनी मत बोलो। जंगली कही की हम तेरी तरह बाजारू नहीं हैं।''..... .....''रो रहा है हम अपन नसीब पे। आज हमरा साथ कोई मरद होता, पैसा होता, रोब होता तो पांच–दस थमा के हमहू इज्जतदार बनल रहता। ऐसे का इज्जत है हमरा ? हम बजारू हैं।''[43] इन पंक्तियों से स्पष्ट है कि यह औरत अपने जीवन में कितनी असहाय महसूस कर रही है। उसका इस प्रकार कहना सभ्य समाज की उस मानसिकता की ओर संकेत करता है, जो समाजिक, आर्थिक और राजनीतिक रूप से अत्यंत पिछड़े हुए समाज और उसमें रहने वाले लोगों को सभ्य समझना तो दूर की बात, 'आदमी' ही नहीं मानता है। उसके दिल को उस समय सर्वाधिक ठेस पहुंचती है, जब बगल के यात्री को परेशानी में देखकर उसे 'बहन' कहकर संबोधित करती है तथा उसकी तकलीफों को बांटना चाहती है।

मंगल सिंह मुण्डा की कहानी 'महुआ के फूल' में पुरूषों के अत्याचारों का विरोध करती हुई नारी को दर्शाया है। मूलचंद गजराम गांव का एक साहूकार है जो गांव के भोले–भाले गरीब कंगालों का खून चूस कर अपनी तिजौरी भरने में लगा है। अपने गुण्डों और लठैतों द्वारा गॉंव के लोगों को आंतकित किए हुए है। यही

नहीं जो लोग अपने माल से दारू बना कर बेचते थे उनके हाथ भी काट दिये गये। उसने गाँव में एक शराब का कारखाना खोला जिससे खुदरा विक्रेताओं का धंधा ठप हो जाये। गाँव के एक भी आदमी में इतनी हिम्मत नहीं कि मूलचंद के खिलाफ आवाज उठाने के लिए जोर देती है, ''वह जानती है कि किसानों के हित के लिये प्रत्येक शहर में उचित दर की दुकान सरकार ने खोल रखी है।..... गत साल से इस बात को ग्रामीणों के बीच प्रचार–प्रसार करने में जोर–जोर से लगी हुई है।''[44] परिणामतः राधिका मूलचंद के लिये रास्ते का कांटा बनकर खड़ी हो गई है। वह गाँव के स्त्रियों को एकत्र करके मूलचंद के खिलाफ मोर्चा निकालती है, ''ब्लेड सेना के वीर सेनानियों, माताओं एवं बहनों, बड़ी शर्म की बात है कि गाँव का पुरूषवर्ग मूलचंद की दमन नीति को कुचलने में पूरी तरह असफल रहा है। हमारी जानें खतरें में पड़ गयी है। अब हमें पुरूषों पर कतई भरोसा न करना चाहिये। नारी भी शक्ति का ही रूप है।..... गाँव की समस्त नारियाँ छोटी या बड़ी इस झण्डे के नीचे, एकजुट हो कर इसकी योजना को विफल कर दें।''[45] इन पंक्तियों से स्पष्ट हैं कि राधिका गाँव के मूक–बधिर हो चुके पुरूषों को साहूकार के लिखाफ उसकी दमन नीति को रोकने के लिए आवाज उठाने का प्रयास कर रही है, जिससे गाँव के लोग अपने अधिकार को जान सके। आदिवासी स्त्री राधिकाबाई करमु सरंपच के आदमी बीरजू को छूरा मार कर हत्या कर देती है और इस प्रकार वह स्त्रियों के ऊपर होने वाले पुरूषों के अत्याचारों का विरोध करती है जिससे समाज में स्त्रियों का सिर ऊँचा उठता है। अंततः इन सबका परिणाम राधिकाबाई को अपनी जान गँवाकर ही मिलता है।

मंगल सिंह मुण्डा की एक अन्य कहानी 'धोखा' में मुंगली नामक एक आदिवासी लड़की के चरित्र और उस पर हुए अत्याचार को दर्शाया है। मुंगली ठेकदार पर भरोसा कर बैठती है। उसपर अपना सर्वस्व न्योछावर कर देती है, मगर वह उसे धोखा देकर उसकी चार महीने की तनख्वाह लेकर गायब हो जाता है, ''क्या बताऊं दादा। चार महीना पहिले उसने मुझसे कहा था कि मैं उसकी हो जाऊं। रात दिन हर समय उसकी सेवा सुश्रषा करूं। बरसात आने तक काम करने के बाद हम घर चले जायेंगे। वहाँ जगह जमीन खेत बाड़ी है। इस तरह मुझे रेजा

का काम नहीं करना पड़ेगा। सोने की चूड़ियां तथा बंगाली साँखा मेरे लिये बनवायेगा..... आदि। तब इसके बहकावे में आकर अपना सब कुछ उसे देती रही। आज सुन रही हूं कि वह तो भाग गया। अब मेरे पास घर जाने का पैसा भी नहीं।''[46] कहने का यहाँ अर्थ है कि यह समाज भरोसे के काबिल नहीं है। चतुर और ओहदेमंद लोग गरीबों की इज्जत उतारते हैं, उन्हें बर्बाद करते हैं। आदिवासी भोली–भाली लड़कियों को उठाना उन्हें बर्बाद करना आज के समाज के नुमाइंदों का प्रधान काम है।

मनीष राय की कहानी 'शिलान्यास' आत्मकथात्मक है और सहज भाषा में एक निश्छल और भोली–भाली आदिवासी युवती की एक जज द्वारा शारीरिक शोषण किये जाने की घटना का मार्मिक चित्रण करती है। जज, मुरिया जनजाति की एक स्त्री के साथ जबर्दस्ती शादी कर उसके साथ व्यभिचार करता है। फिर कुछ समय बाद उसे छोड़कर चला जाता है। इस बीच में उसे एक लड़का पैदा होता है, जिसके चलते गाँव के लोग और पंचायत उसे कुल्टा कहकर गाँव से बाहर निकाल देती है। लड़का बार–बार अपने पिता का नाम पूछता है, किन्तु 'मुरिया' जनजाति की स्त्री होने के कारण वह अपने पति जज का नाम नहीं लेती है। एक दिन अचानक जज उसके गाँव लौटता है और वह स्त्री अपने बेटे सोमू से उसका परिचय कराती है तब जज उसे पहचानने से इनकार करता है और उसका अपमान भी करता है, ''चौकीदार, यह पागल औरत कौन है? निकालो इसे कमरे से!'' ..... मां गिड़गिड़ा रही थी।.... चपरासी को देखकर वह धोखेबाज चिल्लाया था, ''हटाओ इस रांड को यहाँ से।''[47] जिस ढंग से जज आदिवासी महिला को गाली देकर बाहर निकालता है, उसे देखकर यही लगता है कि आदिवासी युवतियों की नियति यही है। जज का अत्याचार यहीं तक खत्म नहीं हुआ बल्कि उसने मां–बेटे दोनो को ही गलत तरीके से नक्सलाइट करार देते हुए काल–कोठरी में बंद करवा दिया, ''धोखे–बाज, गद्दार! जिस देवी ने अठारह साल तुझे दिलमंदिर में सजाकर पूजा, उसे तूने रांड कहा, मैं तुझे जिंदा नहीं छोडूगां।'' ..... उन हरामखोरों ने बाहर निकालकर ही दम नहीं लिया। हमें थाने ले गये। मुझ पर नक्सलवादी होने का आरोप लगाकर और मां को मेरे अवैधानिक कार्यों का सहयोगी बताकर अन्दर कर

दिया।''[48] सोमू का दोष सिर्फ इतना है कि जब उसकी माँ जज से उसका वादा याद दिलाने के लिए गेस्ट हाउस जाती तो वह जज उसे पहचानने से इनकार कर देता है तथा चपरासी को धक्का मारकर कमरे से बाहर निकालने का आदेश देता है। सोमू अपनी माँ के इस अपमान को भूल नहीं पाता है और उसके अस्तित्व की रक्षा के लिए समाने खड़ा हो जाता है। पुलिस उसे और उसकी मां पर गलत आरोप लगाकर जेल में बंद कर देती है। अंततः वह आदिवासी युवक पुलिस और प्रशासन की शोषण की प्रक्रिया का शिकार होकर मौत की सजा पाता है।

राकेश वत्स ने 'अवशेष' में एक आदिवासी युवती के साथ शहर से जंगल में पिकनिक मानने आये चार सम्पन्न शहरी लोगों द्वारा किये जा रहे भद्दे मजाक और उसके विरोधस्वरूप उठी आवाज का चित्रण करती है। जबकि युवती मानवीयता के नाते उन्हें यह खबर करने आती है उनका ड्राइवर दुर्घटनाग्रस्त हो गया है, लेकिन शराब के नशे में उसके साथ भद्दा माजक करने लगते हैं, ''पर रास्ते में खड़े गुप्ता ने उसे रोक लिया,'' अ हु हु हु इस तरह से नहीं, अब आई हो तो कुछ औरत जाति होने का फर्ज निभाती जाओ।''[49] यह कहानी शहरी समाज की उस मानसिकता पर भी गहरी चोट करती है, जहाँ अपने दुर्घटनाग्रस्त ड्राइवर को बचाने की बजाय लोग शराब पीने में व्यस्त हैं। मानो जीवन में आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक रूप से कमजोर और पिछड़े लोगों का कोई अस्तित्व ही नहीं है।

अरूण प्रकाश की कहानी 'बेला एक्का लौट रही है' की बेला छोटानागपुर में सिन्द्री के पास दामोदर नदी के किनारे के एक गांव की रहने वाली आदिवासी युवती है, जो बड़ी मेहनत से उच्च शिक्षा के लिए रांची जाती है। रांची में फादर विलियम द्वारा नैतिक रूप से उत्साहित करने के कारण वह बी.ए. की पढ़ाई पूरी करती है। उसके जीवन की एक मात्र इच्छा है, एक अच्छी नौकरी प्राप्त करना जिससे अपना और अपने परिवार की स्थिति वह सुधार सके। लेकिन उसकी यह इच्छा उस समय खत्म हो जाती है, जब नौकरी ज्वाइन करने के बाद उसे पता चलता है कि कम्पनी के जनकल्याण अधिकारी जगदीश सिंह वहाँ की सारी शिक्षिकाओं के साथ अमानवीय बर्ताव करता है। यहाँ तक कि क्लर्क और चपरासी भी उसके साथ भद्दा मजाक करते हैं, ''मैडम, मेरा भी ख्याल रखना।'' चपरासी

लेखन मिसिर धमकाता है– 'मेमे साहब पहले सिंह जी से पढ़ लो फिर बच्चों को पढ़ाना।''[50] बेला एक्का इन सबका सामना नहीं कर पाती है और नौकरी छोड़ने का फैसला कर लेती है। वह कल्याण अधिकारी के खिलाफ चीफ कमिश्नर ऑफ शिड्यूल कास्ट एंड ट्राइब्स से शिकायत करती है, पर जब जाँच समिति के सामने सारी शिक्षिकाएँ कल्याण अधिकारी के आंतक से अपना मुँह नहीं खोल पाती हैं और जब खोलती है तो बेला एक्का की ही शिकायत करती है तथा कल्याण अधिकारी को अपना भाई बताती है।'[51] यहाँ तक की बीच बाजार में बेला एक्का को रोककर कल्याण अधिकारी के गुंडे डराते हैं और धमकाते हैं।

''ए मास्टरनी साहेब, रूकिए।''

''ई क्या, जगदीश बाबू पर कम्पलेन किया है आंय? कमिश्नर झांट उखाड़ लेगा? ई सब नाटक बंद करो मेमसाहब! नहीं तो ई जो तनकर चलती हो, जबानिए खोंट लेंगे। समझी? अरे जगदीश बाबू कंपनी के राजा है।'' ''रानी बन जाओ नहीं तो हम रंडी बनाकर छोड़ेगें।''[52] यहाँ कल्याण अधिकारी के गुंडे जिस अभद्र तरीके से बेला एक्का जैसी आदिवासी युवती को धमकाते हैं, ठीक उसी प्रकार वे किसी अन्य को नहीं धमका सकते थे। क्योंकि बेला एक्का एक ऐसे समाज की महिला है, जो अत्यंत पिछड़ा है। वह न तो सामाजिक रूप से मजबूत है और न आर्थिक रूप से।

ललित शाह की 'गुरमा' एक आदिवासी युवती गुरमा का है जो जंगल से लकड़ी चुनकर बाजार में बेचती है। उसका पति शारीरिक रूप से अक्षम है। उसके क्षेत्र का ठेकेदार पहले तो गुरमा को लालच देकर फंसाने की कोशिश करता है और जब वह उसकी बात मानने से साफ इनकार कर देती है, तब उसे जंगल से लकड़ी चुनने से रोक देता है। इसके बाद भी जब गुरमा उसकी बात नहीं मानती है, तो वह पुलिस की मदद से उसके असमर्थ पति पर चोरी का आरोप लगाकर गिरफ्तार करवा देता है तथा इस शर्त पर उसे छुड़ाने का वचन देता है कि वह रात में उसके पास आयेगी। गुरमा ठेकेदार को चेतावनी देती है कि यदि उसने उसके पति को नहीं छुड़वाया तो वह अपने घर पत्नी और बच्चों के पास नहीं लौट पाएगा–

''उसने झटके से छप्पर में खुंसा कुल्हाड़ा खींच लिया और ठेकेदार को दिखलाते हुए दृढ़ स्वर में बोली, ''तुझे इसी कुल्हाड़े से चैल की तरह चीरकर जंगल में सूखने नहीं छोड़ दिया तो मेरा नाम गुरमा नहीं!''[53] यह कहानी इस बात की ओर भी संकेत करती है कि अब आदिवासी युवतियों में भी अपनी 'अस्मिता' के प्रति चेतना आ गई है। स्वाभिमान और अस्तित्व–रक्षा की लड़ाई ये दोनों ऐसी लड़ाइयाँ हैं, जिसे केवल शारीरिक शक्ति के आधार पर ही नहीं लड़ा जा सकता है। इसके लिये मन को भी मजबूत बनाना पड़ता है।

शंकरलाल मीणा की कहानी 'कहानी के बाहर की औरत' बेनकाब करके रख देती है उस विकसित आदिवासी पुरूष की मानसिकता को जो कहानी की औरत का सपना पालता है और घर की औरत की उपेक्षा करता है– 'मजाक उड़ाता है और उसे फूहड़ मानकर अजायबघर की चीज समझता है। हालांकि उस घर की औरत के सारे पिछड़ेपन का जिम्मेवार उसका खुद का पुरूषसमाज ही होता है जो पितृप्रधान है।'[54] कृष्णचंद टुड्डू की 'एक वित्ता जमीन' हो या रोज़ केरकेट्टा की 'भंवर' दोनों कहानियाँ सम्पत्ति में आदिवासी लड़कियों को अधिकार न देने की प्रचलित प्रथा के विराधे की कथा है, जिससे आदिवासी समाज लड़की की हत्या तक करने पर उतारू हो जाता है।'[55] वस्तुतः विकास की तमाम प्रक्रिया और राजनीतिक नारों के बावजूद आज भी आदिवासी समाज उपेक्षित और पिछड़ा हुआ है। सांस्कृतिक दृष्टि से यह समाज जितना समृद्ध है, आज सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से उतना ही पिछड़ा हुआ। आज भी ये मुख्यधारा के जीवन से अलग–अलग पहाड़ी इलाकों में संघर्षपूर्ण जिंदगी व्यतीत करने के लिए विवश है।

इस अध्ययन से पता चलता है कि महाजनी शोषण से समाज के गरीब किसान, मजदूर और आदिवासी ही सबसे अधिक पीड़ित हैं। इन्हीं कारणों से आदिवासियों के पास भूमि रहते हुए भी वे भूमिहीन हो गए हैं। इनके शोषण में जमीदार और साहूकार के साथ–साथ सरकारी तंत्रों में लिप्त व्यक्ति भी कम साझेदार नहीं है। रक्षक ही यदि भक्षक हो जाये तो आदिवासियों का भी भगवान ही मालिक होगा। सभी जगह शोषक वर्गों का एक जैसा रूप एवं रंग होता है। वह साहूकार या जमींदार ही क्यों न हो। उनका एक मात्र कार्य शोषण करना होता है,

जिससे कि अधिकाधिक लाभ उठाया जा सके। उनको किसी देश, समाज और समुदाय की चिंता नहीं होती है। आदिवासियों की एक और गंभीर समस्या जातिगत भेदभाव की है। अलग पहचान होने के कारण उन्हें समाज में घुलने–मिलने में समय लगता हैं देखा गया है कि आदिवासियों का हर जगह शोषण ही हुआ है। इसलिए उनको लगता है मुख्यधारा के लोग उनके हितैषी नहीं है। आदिवासी क्षेत्रों में बाहर से आकर रहने वाले भले ही अपने को सादान (सदा से रहने वाला) कहते हों, लेकिन इनका आदिवासियों के साथ तादत्म्य कभी नहीं हुआ ना ही इन लोगों का आदिवासियों के प्रति कोई सहानुभूति थी। आधुनिकता के दौर में पूरा विश्व आंतरिक उपनिवेश से पीड़ित है। उपनिवेशी प्रवृत्ति ने आदिवासियों के जिंदगी को अस्त–व्यस्त ही नहीं किया, बल्कि उनकी पहचान को विकृत किया है। पर्यावरण के विनाश से साथ ही आदिवासिों के सांस्कृतिक क्षरण का भी इतिहास प्रारंभ होता है। इसके कारण आदिवासिों के मौलिक संस्कृति में बाहरी संस्कृतियों का घालमेल होने लगता है। साथ ही ईसाई मिशनरियों द्वारा शिक्षा के प्रचार और प्रसार ने आदिवासियों के विस्थापन को उत्प्रेरकता प्रदान की। लोग बहेतर शिक्षा की आकांक्षा में बाहर जाने लगे और कालांतर में वहीं बस गये। कुछ लोगों को ईसाई धर्म का प्रचार करने के लिए अन्य प्रांतों और देशों में भी भेजा जाने लगा। इससे भी विस्थापन हुआ है, लेकिन इसमें बेहतर जिंदगी हेतु स्वीकार्यतापूर्ण विस्थापन है। इसमें दयनीयता नहीं है। देश–विदेश के पूंजी के गठजोड़ द्वारा प्राकृतिक सम्पदा के अन्धाधुन्ध दोहन ने आदिवासी समाज के पारम्परिक जीवनस्रोतों को सोख लिया है।

गरीबी और बेरोजगारी आज देश की सबसे बड़ी समस्याएँ बनकर उभरी हैं। रोजगार की तलाश में लोगों ने विश्व का कोना–कोना छान मारा है। पढ़े–लिखे बेरोजगार युवाओं की संख्या निरंतर बढ़ती जा रही है। अशिक्षित बेरोजगार मजदूरों की संख्या भी कम नहीं हैं। इस प्रकार की समस्या से समाज के सभी वर्ग पीड़ित हैं। मुख्यधारा के समाज से अलग रहने वाला आदिवासी समाज की नयी पीढ़ी आजीविका की खोज में निरन्तर पलायन कर रही है।

दरअसल आदिवासी समाज में डॉ. अम्बेडकर जैसा गाँधी के मुकाबिल खड़ा होने वाला अलग से कोई नेता आजादी के दौरान देश के पैमाने पर उभरने में

कामयाब नहीं हुआ जो उनकी विशेष समस्याओं को राष्ट्रीय स्तर पर वाणी देता। हालांकि बाबा साहब ने अनुसूचित जाति और जनजाति दोनों की बात समान रूप से उठाई और उनको नेतृत्व भी प्रदान किया। पर आदिवासियों की कई समस्यायें दलितों से समान होते हुए भी, कुछ भिन्न भी थी। 'दलित भारतीय समाज का अंग होते हुए उनसे बहिष्कृत कर के रखे गए। वे गाँव का अभिन्न पर बहिष्कृत अंग थे। पर आदिवासी तो उस समाज और सभ्यता से ही बहिष्कृत कर मुख्य धारा से अलग–थलग कर दिए गए थे। उनके टोलों में गैर आदिवासी या हिन्दू नहीं रहते। उनके पास जमीन थी जो वे जंगल साफ करके बनाते थे, पर अंग्रेजों, जमींदारों, महाजनों और कर्मचारियों द्वारा वे बराबर खदेड़े जाते रहे– विस्थापित किए जाते रहे और वे यायवरी बंजारों–सी जिन्दगी जीने को बाध्य किए जाते रहे। इनकी जरूरत थी जंगल, जल, जमीन और महाजनों–सामन्तों से मुक्ति। उनके साथ अस्पृश्यता की समस्या उतनी बड़ी नहीं थी, चूँकि वे समाज से ही अलग–थलग रहते थे। उनका स्वाभिमान ही उन्हें आबादी से दूर जंगलों में ले गया था।'[55]

संदर्भ ग्रंथः–

1. कार्ल मार्क्स/फ्रेडरिक एंगेल्स, संकलित रचनाएं, खंड–3, भाग–2, (परिवार, निजी सम्पत्ति और राज्य की उत्पत्ति) प्रगति प्रकाशन, मास्को, 1978, पृ. 28
2. आंद्रे बेतेई, कन्ट्रकशन ऑफ ट्राइब, द टाइम्स ऑफ इंडिया, 19 जून 1995.
3. तलवार, वीर भारतः झारखण्ड के आदिवासी और संघ परिवार, समकालीन जनमत, सितम्बर, 2003, वर्ष–22, अंक–2–3, विशेषांक, 'आदिवासीः मिथ और यथार्थ, पृ. 44
4. मैनेजर पाण्डेय, बूधन–अप्रैल 2004, मध्य एशिया और आर्य समस्या, पृ. 55
5. दुबे, श्यामाचरणः समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2000, पृ. 64
6. वहीं, पृ. 65
7. आंद्रे बेतेई– 'एन्टी यूटोपिया'– एशेनिशियल राइटिंग ऑफ आन्द्रे बेतेई, ऑक्सफोर्ड यूनिवसिर्टी, प्रेस 2005, पृ. 134
8. बाटमेर, टी.बी. : समाजशास्त्र, अनु. गोपाल प्रधान, ग्रंथ शिल्पी, नयी दिल्ली, हिन्दी संस्करण, पृ. 146
9. बेतेई, आंद्रेः क्वश्चन ऑफ डेफिनीशन, सेमिनार, अक्टूबर 1960, पृ. 17
10. वहीं, पृ.17
11. दुबे, श्यामाचरण : समय और संस्कृति, वाणी प्रकाशन, 2000, पृ. 65
12. चौबे, देवेन्द्र, कुमार, दीपक : हाशिये का वृत्तांत, पृ. 355
13. वही, पृ. 355
14. वही, पृ. 356
15. गुप्ता, रमणिकाः आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 6
16. वही, पृ. 8
17. See, V.D. Zotov, the Marxit-Lennist Theory of Society, Progress Publishers, Moscow Soviet, Union, 1985, chapter seven-Nation and Ethnic Relations.

18. पाथी, जगन्नाथः जनजाति क्या है? देशज क्या है?, तपन बोस (सं), देशज कौन? आदिवासी कौन? द अदर मीडिया, दिल्ली, पृ.16
19. दूबे, श्यामाचरणः मानव और संस्कृति, पृ. 59–60
20. चौबे, देवेन्द्रः समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, पृ. 205
21. वही, पृ. 207
22. वही, पृ. 207
23. संजीवः प्रेतमुक्ति, दिशा प्रकाशन, प्रथम सं. 1991, पृ. 10
24. वही, पृ. 35
25. संजीव : पांव तले की दूब, हंस, अगस्त–1990, दिल्ली, पृ. 76
26. वही, पृ. 67
27. वही, पृ. 73
28. वहीं, पृ. 86
29. वही, पृ. 77
30. गुप्ता, रमणिकाः आदिवासी स्तर और नई शताब्दी, पृ. 14
31. वही पृ. 201
32. वही, पृ. 206–207
33. वही, पृ. 211
34. वही, पृ. 211
35. वही, पृ. 13
36. जोशी, भालचंद्रः पहाड़ों पर रात, पहलः 40, जुलाई– दिसम्बर 1990, पृ.62
37. वही, पृ. 61
38. गुप्ता, रमणिकाः आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 181
39. वही, पृ. 184
40. वही, पृ. 11
41. गुप्ता, रमणिकाः युद्धरत आम आदमी, पूर्णांक 80, दिसम्बर 2005, पृ. 90
42. चौबे, देवेन्द्र : समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, पृ. 223
43. संजीवः दुनिया की सबसे हसीन औरत, यात्री प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम सं. 1990, पृ. 147

44. मुण्डा, मंगल सिंहः महुआ का फूल, मीनाक्षी प्रकाशन, दिल्ली, पृ.28
45. वही, पृ. 29
46. वही, पृ. 25
47. राय, मनीष शिलान्यास, प्रकाशन संस्थान, पृ. 83
48. वहीं, पृ. 83
49. वत्स, राकेशः अवशेष, नयी रचना, अकः 5 संपादक–मदनमोहन, नवंबर 1988, पृ. 75
50. प्रकाश, अरूणः भैया एक्सप्रेस, पृ. 15
51. वहीं, पृ. 18
52. वहीं, पृ. 19
53. शाह, ललितः गुरमा, साक्षात्कारः 155–157, सं. प्रभाकर श्रोत्रिय, हरिभटनागर, नवंबर– 1992 से जनवरी 1993, पृ. 68
54. गुप्ता, रमणिकाः आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 14
55. वहीं, पृ. 14
56. गुप्ता, रमणिकाः आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, पृ. 6–7

7.1 समकालीन कहानी और गाँव की भाषा

कहानी बड़ी जीवन्त विधा है और जीवन के समान नित्य परिवर्तनशील है। जीवन की जितनी छवियाँ, पक्ष–प्रतिपक्ष और परिपार्श्व है या हो सकते हैं उनकी उतनी ही व्याख्याएँ है। कहानी में भी चूंकि जीवन यथार्थ का भौतिक और मानसिक सत्याभास लाया जाता है, इसलिए उसमें व्यक्त अनुभव, अनुभूति, विचार और कल्पना जब जिसकी प्रधानता हो जाती है, या इनके रचाव की कौशल में जब जिस तत्व (अन्विति, संगठन, प्रभाव, रूप और संकेत आदि) की सफलता दिखाई पड़ती है, उसी (या उन्हीं) को कहानी का अनिवार्य लक्षण बता दिया जाता है। इसलिए कहानी को किसी सर्वसम्मत या अन्तिम परिभाषा में आज तक नहीं बांधा जा सका है। 'कहानी एक कलात्मक साहित्यिक रूप है और कला के अपने कुछ आधारभूत लक्षण है। जैसे जीवन के अपरिभाषित होने पर भी उसकी अपनी एक मौलिक पहचान है, इसी तरह से कला की पहचान भी सर्वमान्य है। 'कला' शब्द अस्पष्ट व्यापक या सूक्ष्म है, इसलिए उससे अधिक ठोस, स्पष्ट व्याख्या सापेक्ष शब्द 'शिल्प' की इसी आधार पर उपयोगिता है, जिसकी शिल्पविधि समझी जा सकती है।'[1]

कहानी निस्संदेह साहित्य का एक अत्यधिक कोमल अंग है, जो अत्यन्त संवेदनशील कलाकार की अपेक्षा करती है। डॉ. लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय ने कहानी–कला की क्षमता का वर्णन करते हुए लिखा है– ''कहानी कला अपने में स्वतन्त्र और पूर्ण कला है और वह जीवन के गम्भीरता क्षणों को आकर्षक ढंग से प्रस्तुत करने की क्षमता रखती है। इस कला में जीवन की उद्‌भुत पकड़ है। उसके द्वारा जटिल से जटिलतर परत सरलतापूर्वक उभारे जाते हैं। रचना विधान की दृष्टि से निःसंदेह उसकी अपनी सीमाएँ हैं और वह जीवन को उसकी समग्रता के साथ अपने में समेट लेने में भी अक्षम रहती है, तो भी जीवन के बिन्दु पर जब कहानी की दृष्टि पड़ती है तो वह बड़ी गहराई के साथ उसे माप लेती है। वह जीवन से अपने ढंग से जूझती है, किन्तु जूझती अवश्य है। हिन्दी में ही नहीं, संसार का कहानी साहित्य इस तथ्य की पुष्टि करता है।''[2] बदलते हुए जीवन को नये कोण और नयी शिल्पविधि से अभिव्यक्त करने में कहानी सदा बदलती रही है। जीवन से उसका सम्बन्ध आदिम है, हाँ सम्बन्ध का रूप और आधार बदलते रहे हैं। कहानी की

रचना–प्रक्रिया जीवन के व्यवहारों से सम्बन्ध हैं।''[3] जब जीवन के कुछ सन्दर्भ पुराने पड़ जाते हैं तो नये संदर्भों की तलाश बदले हुए जीवन में की जाती है। कहानी नए संदर्भों से नयी कलात्मक–अभिव्यक्ति खोज लेती है और जीवंत बनी रहती है।[4] बदलते हुए जीवन की बदलती हुई कहानी की परिभाषा और शिल्पविधि भी बदलती रहती है, क्योंकि लेखक का कला–कौशल 'नये दृष्टिकोण से निरन्तर नए मार्ग ढूंढने तथा नये माध्यम और नये तन्त्रों के प्रयोग करने' में देखा जाता है। अतः वस्तुतः जिसे हम कहानी की शिल्पविधि कहते हैं, वह जीवन के अनिवार्य क्रियात्मक स्थापत्य की ही अभिव्यक्ति है।[5] शैली कहानी का सबसे महत्वपूर्ण और प्रधान तत्व है। कहानी का कथानक कुछ भी न हो, यदि लेखक के पास सुन्दर शैली है, तो वह कहानी में प्राण–प्रतिष्ठा कर सकता है। कहानी की सफलता इस बात पर निर्भर है कि वह पाठकों के हृदय पर किस तरह अपनी अमिट छाप छोड़ती है– यह छाप या प्रभाव उत्तम शैली पर निर्भर है। मैक्सिम गोर्की का कथन है कि 'सबसे उत्कृष्ट कोटि की कहानी वह है, जो लाठी की मार की तरह पाठकों के हृदय पर चोट करे।'[6]

भारत में हुए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन ने समस्त लेखन को बदलकर रख दिया था। सन् 1962 हमारे लिए एक तरह मोहभंग का समय रहा है। राजनैतिक एवं सामरिक स्तर पर चीन के साथ भारत का मतभेद होता है। विश्व–बंधुत्व एवं पंचशील के सिद्धांतों में विश्वास रखने वाले देश भारत पर चीन का आक्रमण होता है और हमारे राष्ट्र को हार का अपमान सहना पड़ता है। इस हार ने भारतवासियों में एक तरह का निराशा बोध जगाया। इसके बाद भी परिस्थितियाँ सुधरी नहीं। भयंकर सूखे एवं अकाल की स्थिति में खाद्यान्न संकट खड़ा हो गया। फिर तो महंगाई बढ़ी और जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओं का अभाव हो चला। राशन की वस्तुओं के लिए लंबी–लंबी कतारे दिखने लगीं, वहीं युवा वर्ग में बेरोजगारी बढ़ती जा रही थी, ऐसी स्थिति में वामपंथी विचारधारा को बल मिला और नक्सलबाड़ी आंदोलन भी एक विचारधारा के रूप में उभरा। इन विषम परिस्थितियों में जनमानस का आक्रोश अभिव्यक्ति के लिए छटपटा रहा था। सन् 1965 में पाकिस्तान के साथ पुनः युद्ध होता है, किन्तु इस युद्ध में भारत की

जीत होती है और भारतवासियों में एक नई चेतना एवं जोश का संचार होता है। 1962 की हार से मिले नैराश्य की स्थिति समाप्त होती है। जनमानस में आये इस परिवर्तन से हिन्दी साहित्य को एक नई मुद्रा प्राप्त होती है। देश की सड़ी–गली व्यवस्था से लड़ने की बात अब कहानी और कविताओं में अभिव्यक्त होने लगी। इस प्रकार से 1965 को साहित्य का नया प्रस्थान बिन्दु माना जा सकता है। वहीं समकालीन कहानी के रूप में भी हिन्दी कहानी का यह महत्वपूर्ण मोड़ है।

समकालीन कहानीकारों की कहानियों में जिंदगी का यथार्थ दिखलाई पड़ता है। इस यथार्थ को पकड़ने के लिए वे कहानी कला की बनी बनाई परिपाटी को ग्रहण नहीं करते हैं, बल्कि प्रेमचंद की तरह सहजता से गाँव की भाषा में इस जिंदगी के यथार्थ को उत्कृष्ट करते हैं। प्रेमचंद की अधिकतर कहानियाँ ग्रामीण वातावरण, सामाजिक रूढ़ियों, परम्पराओं, धार्मिक अंधविश्वासों एवं उनकी धर्मभीरू प्रवृत्ति, आदर्श निष्ठा तथा ग्रामवासियों के दारिद्रय से परिपूर्ण है। उनकी कहानियाँ प्रमुखतः किसी अंचल या प्रान्त विशेष से सम्बन्ध नहीं है, फिर भी उनके अध्ययन करने पर लोकगाथात्मक तत्व उनमें विद्यमान लक्षित होते हैं। कृषक–समाज धूल–धूसरित रहकर मध्याह्न में भी ज्येष्ठ मास की तप्त ज्वाला को सहकर, अत्याचार एवं शोषण का लक्ष्य बनाता है।'[7] कहानी के लिए प्रेमचंद ने 'गल्प', 'आख्यायिका' और 'किस्सा' शब्दों का प्रयोग किया है। प्रेमचंद का यथार्थवाद जितना गहरा हुआ, उनकी कला भी उतनी ही निखरी। उनकी कहानियाँ और उपन्यास अधिक सजीव और कलापूर्ण बने। उनकी शुरू की कहानियाँ पढ़ने पर कभी–कभी ऐसा लगता है कि कहानी का मनचाहा अंत करने के लिए वह घटनाओं को तोड़ता–मरोड़ता है। ये कमजोरियाँ दूर हो गयी और उनकी श्रेष्ठ कहानियों में आवश्यक सामग्री का उचित उपयोग और चरित्र–चित्रण में सुंदर कौशल दिखाई देता है। वे उन लघु चित्रों की कारीगरी के नमूने हैं, जिनमें जनजीवन की सजीव तस्वीरें मिलती हैं।'[8] देवेन्द्र कुमार चौबे ने 'समकालीन कहानी का समाजशास्त्र' में लिखा है कि भारतीय समाज की मुख्यधारा के अंदर और बाहर हाशिये की जिंदगी व्यतीत कर रहे ये लोग आज भी भूख की समस्या और अस्तित्व रक्षा के संकट से जूझ रहे हैं। इनके द्वारा बोली और कहानीकारों द्वारा रची हुई भाषा इनके जीवन की जिस वास्तविक

सच्चाई को हमारे सामने रखती है, वह कितनी क्रूर, अमानवीय, दयनीय और संवेदनहीन है, इसका अंदाज हम देख और सुनकर लगा सकते हैं। हाशिये के लोगों की इस विवशताभरी भाषा को हिन्दी कहानी में सबसे पहले प्रेमचंद ने एक गहरी मानवीय संवेदना और सामाजिक अंतर्दृष्टि के साथ पकड़ा और उठाया था।[9] प्रेमचंद की कहानियों के पात्र जिस भाषा के माध्यम से अपनी विवशताभरी जिंदगी को हमारे सामने रखते हैं, वह कितनी मार्मिक और हृदय को झकझोर देनेवाली है, इसका अंदाजा हम निम्नलिखित पंक्तियों से लगा सकते हैंः–

'पड़ाइन माता, मुझसे बड़ी भूल हुई कि घर में चला आया। चमार की अकल ही तो ठहरी। इतने मूरख न होते तो लात क्यों खाते।'' .....

–सद्गतिः प्रेमचंद, पृ. 233

'' ..... मंगल ने एक हाथ से टामी का सिर हिलाकर कहा– 'देख, पेट की आग ऐसी होती है। यह लात की मारी हुई रोटियाँ भी न मिलतीं तो क्या करते?

–दूध का दामः प्रेमचंद , पृ. 208–209

ग्रामीण जीवन की सरंचना में उपर्युक्त कहानियों के इन दलित पात्रों की भाषा, उनकी जिंदगी की जिस वास्तविकता को हमारे सामने रखती है, वह कितनी मार्मिक और दयनीय है, जिसे वे अपने मालिक प्रभु–वर्ग के संदर्भ में प्रकट करते हैं। हिन्दी कहानियों में भारतीय ग्रामों को वाणी देने में रेणु सफल रहे हैं, क्योंकि उन्होंने अपने अंचल की लोक–संस्कृति, भाषा– मुहावरे, जीवन–परम्परा आदि को सूक्ष्म दृष्टि से परखा है और उसे अपूर्व मानवीय संवेदनशीलता के साथ प्रस्तुत किया है।

स्वतंत्रता के पश्चात् ग्राम–जीवनपरक कहानियाँ भी दो तरह की लिखी जाने लगी। एक तो वे कहानियाँ जिनका सृजन उन लेखकों के द्वारा हुआ, जिनका उस भूमि से प्रत्यक्ष संबंध रहा है। दूसरे, वे थे जिनमें भारत के अज्ञात गाँवों का उद्घाटन हुआ है, तथा जो प्रत्यक्ष भारत में होते हुए भी न हुए के बराबर है। इन अंचलों से उनके लेखकों का वैसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं जैसाकि प्रथम सरकार में है।

देवेन्द्र सत्यार्थी, बलभद्र ठाकुर, राजेन्द्र अवस्थी, रांगेय राघव, उदयशंकर भट्ट आदि कहानीकार दूसरे कोटि के हैं। प्रथम प्रकार के ग्राम–जीवनपरक कहानियों के लेखकों का उस परिवेश से सीधा, प्रत्यक्ष तथा दीर्घ लगाव रहा है। उन्होंने यहाँ के जीवन को अनुभूति के स्तर पर जिया है। यहाँ के अभावों, सुख–दुःख, दर्द आदि मनोवेगों का चित्रण अपनी कहानियों में किया है। नार्गाजुन, फणीश्वरनाथ रेणु, मार्कण्डेय, शिवप्रसाद सिंह, विवेकी राय, शिवसागर मिश्र आदि कहानीकार प्रथम कोटि के हैं। नई कहानी–आंदोलन में शिवप्रसाद सिंह की पहचान मूलतः एक ग्राम–कथाकार के रूप में उभर कर आई थी। लेकिन ग्रामीण यथार्थ के अपने अंकन में न तो वे वैचारिक तेजस्विता अपानते दिखाई देते हैं और न ही लोक तत्वों के समुचित उपयोग के बावजूद आंचलिकता के प्रति एक स्वतंत्र आंदोलन का उत्साह दिखाते हैं। अपनी अनेक कहानियों में शिवप्रसाद सिंह ने ग्राम समाज में हाशिए पर जीवित लोगों–मुसहर, चमार, कुम्हार, भंगी, कंजर, नट, केवट, भांड, वेश्या आदि को अपने वर्ग–संस्कारों से मुक्त होकर अंकित किया है।[10] मार्कण्डेय के 'भूदान' संग्रह की आठ कहानियों में ग्रामीण जीवन के विभिन्न चित्र है। मार्कण्डेय की कहानियों की विशेषता उनकी करूणा और व्यंग्य है। करूणा कभी–कभी हल्की भावुकता के स्तर की होती है, जिससे कहानी पढ़कर हल्की–सी वेदना का अनुभव होता है, लेकिन चरित्र या घटनाएँ हृदय पर अंकित नहीं रह जाती। कभी–कभी बात सीधे न कहकर व्यर्थ ही उलझाने, अनावश्यक विस्तार या निरर्थक बारीकियों को चित्रित करने और कहीं–कहीं भाषा को अतिशय लाक्षणिक बनाने की प्रवृत्ति भी है। व्यंग्यपूर्ण कहानियों में अक्सर कथा शिल्प स्वच्छ, चरित्र उभरे हुए और भाषा अधिक प्रवाहपूर्ण होती है। इन कहानियों में अभी पुराने समाज के ही चित्र हैं, जिसमें विघटन और विनाश की प्रक्रिया तो देखी जाती है, किन्तु नए संघर्षों और निर्माण की शक्तियाँ उसमें जैसे है ही नहीं, है तो सो रही है। किन्तु वास्तविकता यह है कि गाँवों का जीवन अब वैसा ही नही हैं, जैसा वह कहानी लेखक के बचपन में था। नये संघर्ष फूट रहे हैं और नव निर्माण की शक्तियाँ गतिशील हैं। मार्कण्डेय जी से समाज के इस पहलू को भी देखने और गाँवों का अधिक भरापूरा चित्रण करने की आशा की जा सकती है।[11] राजेन्द्र अवस्थी ने भारत के ग्राम्य जीवन और उसमें भी सघन वनों में रहने वालों को अपने

कथ्य–लेखन का मुख्य विषय बनाया है। मध्य प्रदेश का बस्तर, मण्डला के सघन इलाके और बिहार के कुछ क्षेत्र अवस्थी के कथ्य के माध्यम बन कर उभरे हैं। कवि होने के नाते इनकी कहानियों में काव्यत्व भी दिखाई पड़ता है। इनकी प्रमुख कहानियाँ हैं– 'विभाजन', 'लमसेना', 'उलझन', 'पीढ़ियाँ', 'जनसेवा' आदि।[12] इसराइल घोषित रूप से एक वामपंथी लेखक हैं,जो लंबे समय तक मजदूर आंदोलन से जुड़े रहे है। उनकी कहानियों में कलकत्ता में विस्थापित भोजपुरी–बिहारी मजदूरों की एक आत्मीय और अंतरंग दुनिया से साक्षात्कार किया जा सकता है। मजदूरों के तेवर और उनकी संगठनात्मक उपलब्धियों की दृष्टि से 'मुस्कान', 'पंच', 'रात बाकी थी', 'फिर उसी कहानी की' और 'लोग जिन्दा हैं' आदि कहानियाँ उल्लेखनीय है। इन कहानियों में अंकित संघर्ष यांत्रिकता और एकांगिता से मुक्त है। वे मजदूरों के संघर्ष को तो अंकित करते ही हैं, उनकी छोटी–छोटी दैनंदिन खुशियों, आपसी संबंधों और उनके व्यवहार को कुछ चित्रात्मक और मासंल ढंग से अंकित करते हैं। संरचना की दृष्टि से इसराइल की ये कहानियाँ इकहरेपन से बचकर यथार्थ के संश्लिष्ट अंकन का उदाहरण है। भाषा की सर्जनात्मकता, चित्रमयता और बिम्ब–क्षमता के कारण ये कहानियाँ एक ऐसी संवेदनशीलता उपलब्ध कर सकी हैं, जो कहानियों के प्रभाव को बढ़ाती भी है और उसे स्थायीत्व भी देती है।[13]

1970 तक आते–आते देश के विभिन्न हिस्सों में जो जन–आंदोलन शुरू हुए, उसका व्यापक असर हिंदी कहानी पर भी पड़ा। कहानी की भाषा, दशा और दिशा दोनों बदल गईं तथा वह गाँव के लोगों पर केंद्रित हो गई। उसके अंदर सामंतों, भू–पतियों और प्रभु–वर्ग के लोगों का आंतक तो था, परन्तु उसका विरोध करने का साहस भी वे लिये हुए थे। परिणामतः कहानीकारों के कहानी कहने और लिखने की कला के साथ–साथ, उनकी भाषा में भी बदलाव आया तथा पात्रों के चारित्रिक तेवर भी बदले। वे लोग आज भी हिन्दी नहीं बोलते हैं। उनकी बोलचाल की भाषा, उनकी क्षेत्रीय भाषा और बोली से प्रभावित होती हैं और एक तरह से इससे उनकी अपनी एक अलग पहचान भी बनती है। समकालीन हिन्दी कहानी की भाषा और कला पर भी इसका गहरा असर दिखलाई पड़ता है। विजेन्द्र अनिल की कहानी

'हल' और 'विस्फोट', विजयकांत की 'बीच का समर' और 'मरीधार', सृंजय की 'कामरेड का कोट', शिवमूर्त्ति की 'तिरिया चरितर', अमरकांत की 'जिन्दगी और जोंक', सतीश जमाली की 'ठाकुर संवाद', दूधनाथ सिंह की 'माई का शोकगीत', सुरेश कांटक की 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', संजीव की 'पावं तले की दूब', 'प्रेतमुक्ति', और 'दुनिया की सबसे हसीन औरत', भालचंद्र जोशी की 'पहाड़ों पर रात', मनीष राय की 'शिलान्यास', मिथिलेश्वर की 'गाँव के लोग', 'मेघना का निर्णय', जयनंदन की 'विषवेल', मैत्रेयी पुष्पा की 'उज्रदारी', महेश कटारे की 'कुआं', मदन मोहन की 'चंपा', वासुदेव की 'माघ की रात', आदि कहानियाँ इसी कोटि की है। इन कहानियों में गाँव के लोगों की भाषा और कहानी की कला पर उनके क्षेत्रीय जीवन और भाषा का गहरा प्रभाव दिखलाई पड़ता है।

विजेन्द्र अनिल, विजयकांत और महेश कटारे की कहानियाँ ग्रामीण जीवन की उपज हैं। इनकी कहानियों में आम जन–जीवन मुखर है। विजेन्द्र अनिल मुख्यतः किसान–मजदूर की कहानियाँ लिखते हैं। उनकी समस्याओं और सपनों को वाणी देते है। उनकी आकांक्षाओं के साथ जुड़कर उनके संघर्षों में भी शामिल होते हैं। लड़ते–जुझते, मरते–मारते भी है। जीवों में आ रहे बदलाव के चित्रण विजेन्द्र अनिल तमाम कहानियों में करते है। विजयकांत भी ग्राम जीवन की कहानियाँ लिखते हैं। इनकी कहानियों में भाषागत, शिल्पगत प्रयोगों की अधिकता दिखाती हैं। मगर ये उस जमीन की कहानियाँ उठाते हैं, जहाँ दमित, प्रताड़ित जन पूरे जद्दोजहद के साथ अपनी बेहतरी के लिए संघर्षरत रहते हैं। विजयकांत की कहानियाँ सक्रिय हस्तक्षेप की कहानियाँ है। वैसे बिहार में, देश के अन्य भागों के मुकाबले, सामंतवाद वर्ण–वर्ग संघर्ष और सामाजिक उत्पीड़न वाली स्थितियाँ अधिक है। विजयकांत के 'ब्रह्मफांस' की कहानियाँ इस वर्ग– चेतना और वर्ग–संघर्ष को बहुत तीखेरूप में उद्घाटित करती हैं। इन कहानियों के पात्र दो स्पष्ट वर्गों में विभाजित हैं। 'ब्रह्मफांस', 'बलैत माखुन भगत', 'राह', 'बान्ह' और 'जाग' आदि सभी कहानियों में एक वर्ग ठाकुरों और मालिकों का है तो दूसरा वर्ग रगनू सपेरा, विसो साहू, माखुन भगत का है। प्रायः इन सभी कहानियों के केन्द्र में सुनौली थान हैं–लेकिन कहानियों में अंकित स्थितियाँ उसे समूचे बिहार के सच से जोड़ती हैं।

कहानी का रचाव उन्हें सपाट और यांत्रिक होने से बचाता है।'[14] अरूण प्रकाश ने भी गाँव की कुछ कहानियाँ लिखी हैं। गवई परिवेश का चित्रण उनमें भी है। मगर उदय प्रकाश तो गाँव के कथाकार है ही नहीं। उनकी कल्पनाशीलता उनकी कहानियों की बुनावट में तल्लीन दिखती है। वहाँ जादुई यथार्थ स्पष्ट है। संजीव ने कुछ कहानियाँ लिखी हैं, जिसमें वर्तमान सामाजिक–राजनीतिक परिवेश में ऊबे हुए चरित्रों का चित्रण मिलता है। अपने 'कॉमरेड का कोट' की पाँच में से दो कहानियाँ– 'बैल–बधिया' और 'भगदत्त का हाथी' में सृंजय बिहार में गहरी जड़े जमाये सांमतवाद की गहरी पड़ताल करते है।'[15] संजीव भी भाषा और शिल्प के प्रयोग से कहानियों की कलात्मकता को ऊँचाई देते हैं। सुरेश कांटक की कहानी–कला अन्य लेखकों से भिन्न दिखाई पड़ती है जिन्होंने गाँव से जुड़ी वास्तविकता समस्याओं को सतही तौर पर न देखकर गहराई से उन समस्याओं के मसले को उठाते हैं।

समकालीन कहानीकारों की कहानियाँ ग्रामीण–जीवन के यथार्थ का प्रस्तुत करती हैं। उन्होंने अपनी कहानियों में स्थानीय शब्दों, मुहावरों, लोकगीत, ग्रामीण–जीवन के अनेक–मुखी मार्मिक चित्रण एवं जन–सामान्य की मानसिक समस्याओं को अपनी कहानियों में अंकित किया है। श्रीधरम की कहानी 'नवजात (क) कथा' सामंतवादी ग्रामीण समाज का चरित्र रूढ़िग्रस्त, दकियानुसी विचारों से लैस और ऊंच–नीच की धुरी के इर्द–गिर्द घूम रहा है। सवर्णों को यह स्वीकार नहीं कि उनकी बेटी किसी दलित लड़के से प्रेम करे, उससे ब्याह रचाए। गणेश झा की पुत्री जिसने एक दलित जाति के लड़के से प्यार किया, और भागकर शादी की। इससे एक तरफ सवर्ण जाति के सर झुक गए हैं दूसरी तरफ चमारटोली में खुशी का माहौल है। चमारटोली के कुछ युवक गीत गाकर कुछ इस प्रकार अपने प्रसन्नता को जाहिर करते हैंः–

'ले जाएंगे, ले जाएंगे,'

'चमरटोली वाले दुलहनियां ले जाएंगे!'

'रह जाएंगे, रह जाएंगे,'

'बमन टोली वाले ताकते रह जाएंगे!'

उपर्युक्त पंक्तियों की भाषा से यह स्पष्ट है कि सर्वण समाज एक ओर जातीय अहंकार की रक्षा में जुटे हैं। दूसरी तरफ दलित जातियों में जो जागृति आई है, उसके चलते वे सहज समर्पण को तैयार नहीं है। भालंचद्र जोशी की कहानी 'पहाड़ों पर रात' आदिवासी जीवन को हमारे सामने उपस्थित करती है, ''डूबी कहाँ लगुन जड़ी जासे?'' (तो भैंस कब तक मिल जाएगी?)।– ''हम जाते ही कार्यवाही करेंगे। भैंस तो समझो मिल गई.....''[16] – यह छोटा–सा वाक्य, जो अपनी पूरी संरचना में एक आदिवासी बुजुर्ग की मनोव्यथा को सरकारी अधिकारों के सामने रख देता है। लेकिन वे न तो उसकी मनोव्यथा को समझने की कोशिश करते हैं और न ही उसकी भाषा को। गहरी संवेदनात्मक भाषा में रची गई यह कहानी उस आदिवासी आदमी की मनोव्यथा, विवशता–भरी जिंदगी और उनके विकास के लिए सरकारी तंत्रों द्वारा की जा रही कोशिशों के छद्म यथार्थ को हमारे सामने रख देती है। यह भाषा और कहानी की कला प्रखर रूप से उनकी जिंदगी की वास्तविकता की पहचान हमारे सामने उपस्थित करती हैं, वहीं दूसरी ओर उससे मुक्ति की छटपटाहट भी हमारे सामने लाती है।

7.2. गाँव के लोगों की भाषा–जिंदगी की वास्तविकता की पहचान

डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने लिखा है कि ''भाषा एक साथ ही एक जीवित वस्तु भी है और जीवन तथा सभ्यता का अजायबघर भी। यथार्थवादी लेखक के सामने भाषा के इन दोनों रूपों से एक के चुनाव की समस्या होती है तथा इसी चुनाव पर यथार्थवाद की सफलता निर्भर होती है।''[17] किसी भी रचना में भाषा का यह रूप इस बात की ओर संकेत करता है कि भाषा का एक सक्रिय, गतिशील और जीवंत रूप होता है, जो किसी भी मनुष्य अथवा समाज के अंतः और बाह्य संरचना को हमारे सामने लाकर उपस्थित कर देता है। गाँव के लोगो के जीवन और उनकी समस्याओं पर विचार करते हुए, यह साफ पता चलता है कि विभिन्न प्रकार के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक परिवेश तथा दबाव में रहने के कारण उनकी जिंदगी की सोच और संस्कृति कई स्तरों पर प्रभावित होती रही है। इस प्रभाव का

गहरा असर गाँव के लोगों की भाषा पर भी पड़ता है। अपने जीवन और उससे जुड़ी समस्याओं से मुक्ति के लिए किये गये संघर्ष के दौरान उनकी मानसिकता एक नयी प्रकार की भाषा की संरचना करती है। बदलाव की प्रक्रिया में गाँव के लोग अपने व्यवहार के लिए एक अलग प्रकार की भाषा रचते हैं, जिसकी उत्पत्ति भी उस संघर्ष के दौरान होती है। यह भाषा उनके जीवन की वास्तविकता को हमारे सामने रखती है। उनकी सोच को पूरी संवेदनात्मक गहराई के साथ उपस्थित करती है। क्योंकि भाषा मनुष्य के विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम है। गाँव के लोगों पर लिखी अधिकांश कहानियों की भाषा का अध्ययन करने के बाद यह स्पष्ट हो जाता है कि वह भाषा एक ओर जहाँ उनकी सीधी–सादी जिंदगी को दिखलाती है, वहीं दूसरी ओर उनके अंदर के संघर्ष और उससे उत्पन्न नयी स्थितियों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट कराती है। एस.आर.हरनोट की कहानी 'मुट्ठी में गाँव' की निम्नलिखित पंक्तियों को ले सकते हैं, जिसमें गाँव के लोगों की भाषा का कहानीकार ने रचनात्मक उपयोग किया है–

''मंगली को परधान फूटी आंख भी नहीं सुहाता। हालांकि कर्ज़ देकर पहले बेटियाँ ब्याही और फिर दूसरी जरूरतें हैं, परधान ये मेहरबानी मुफ्त तो नहीं कर रहा है। सारी ज़मीन अपने नाम लिखवा ली है। जानता है मोती कभी इतने नहीं कमा सकेगा कि रेहन छुड़ा ले।''[18]

यह पंक्तियाँ कहानी की एक मात्र मंगली की है, जिसके खेत को गाँव का भूपति परधान दबा बैठा है। पूरी पंक्तियों की भाषा तथा उसमें आये शब्द एक खेतिहर मजदूर की विवशता को चित्रण करने के साथ यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि ग्रामीण जीवन की संरचना में मजदूरों की क्या हैसियत है? आगे की पंक्तियों में परधान के लिए मंगली का रोष, गुस्सा कुछ इस प्रकार प्रकट होता है, जब सरकार द्वारा मिले अनुदान से मोती एक जर्सी गाय खरीदता है और परधान किसी तरह मोती से जर्सी गाय छीनकर ले आता है–

''जानती हूं परधान! ये कर्ज़ा भी जानबूझकर तुमने थमाया है कि हम लोग बराबर तुम्हारे दरवाज़े के फकीर बने रहे। मैं तो पहले से ही जानती हूँ रे पाजी

तुझे, क्या चीज़ है। हमारा मांस खा–खाकर तेरा घर–बार फल–फूल रहा है। आज एक गाय पर हमारी उम्मीदें बंधी थीं उसे भी लील गया।'' ..... ''बहुत हो लिया परधान, एक घर तो डायन भी छोड़ देती है। पर तूने तो वह भी नहीं छोड़ा। थू तेरे होने को पापी।''[19]

मंगली की यह भाषा इसके जुझारू तेवर का चित्रण करती है। समाज जिस तीव्रता से बदल रहा है। उसकी अभिव्यक्ति मंगली की भाषा से स्पष्ट हो रही है। मंगली की बोली आज यह साबित करता है कि जिस पारिवारिक दायरे और मर्यादा में वह रहती आई है, उसी में अब भी रही है लेकिन उसमें अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने की ताकत भी है।

गाँव में अब भी सामंती व्यवस्था शोषण और आंतक के रूप में मौजूद दिखाई देता है। नरेन्द्र निर्मोही की कहानी 'परनोट' गाँव के जीवन की इसी सच्चाई को हमारे सामने रखते हैं, ''तुझे अपनी इज्जत प्यारी है तो मुझे अपना पैसा?'' ..... ''हरामजादो! कभी एक बार पैसा लेकर लौटाया भी है। जोर जबरदस्ती न करें तो तुम दुअन्नी दिवाल नहीं। हां तो शाह, करो निलामी।''[20] यह भाषा सामंती वर्गों का खेतिहर किसानों पर हो रहे अत्याचार को दिखाता है। अपनी बीमारी के लिए सत्तू के बापू ने शाह से कर्ज लिया था जोकि समय पर सत्तू का बापू चुका नहीं पाया। सत्तू के बापू के पास एक गाय, जिसपर उसके पूरे परिवार का भरण–पोषण ठीका हुआ है। शाह अब उसकी गाय को नीलाम करके अपने पैसे वसूलना चाहता है। अपने अधिकार के लिए संघर्ष में लगे खेतिहर किसान इन वर्गों के सामने कमजोर पड़ जाते हैं– ''बेटा, मैं मर तो उस रोज ही गया था जब शाह ने मेरी पगड़ी पांवों तले मसल दी थी..... आज तो सिर्फ सांस ही छूट रही है....[21] । उपर्युक्त पंक्तियां सत्तू और उसके बापू के वार्तालाप की है। पूरा वार्तालाप और उसकी भाषा एक खेतिहर मजदूर की विवशता है। वाजिब हक पाने के लिए भी इन्हें जिस मानसिक संघर्ष से गुजरना पड़ता है, वह इन्हें इतना लाचार, बेबस और असहाय बना देता है कि ये चाहकर भी कुछ नहीं कर पाते हैं।

सामाजिक जीवन में गाँव के लोग जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, उसका विश्लेषण करने पर पता चलता है कि 'भूख' उनकी एक बड़ी समस्या है। यह उनकी भाषा और उसमें आये शब्दों को भी देखकर पता चल जाता है। शिवप्रसाद सिंह की कहानी 'मुर्गे ने बांग दी' की निम्नलिखित पंक्तियों में गरीबों की समस्या कुछ इस प्रकार दिखाई देती है–

''अरे आज भी भूखे रहोगे क्या? अपने रहना हो रहो, लड़के की तो फिकर करो। सबकी हालत खराब है। कोई मजूरी नहीं देता न सही, ठाकुर के पास तो कम नहीं है न। जाओं खेत में होंगे, ऐसे कैसे काम चलेगा।''[22]

यह वार्तालाप एक पति और पत्नी के बीच का है, जिसकी मजूरी ठाकुर के पास पड़ी है। घर में खाने को कुछ नहीं है। बेटा भूखा से तड़प रहा है। यह भाषा उनकी जिंदगी की लाचारी, पीड़ा, आत्मप्रवंचना और जिजीविषा को जिस गहराई के साथ प्रकट करती है। मंगरू जब अपनी बची हुई मजदूरी लेने के लिए ठाकुर के पास जाता है, तो ठाकुर कुछ इस प्रकार से बात करता है– ''मालिक, मेरी मजदूरी मिल जाती।'' ''मजदूरी! ''ठाकुर बोले, ''जैसे हम गाँव छोड़कर भागे जा रहे हैं। अरे भाई दस–पन्द्रह रोज की बात है। जहाँ बुआई खतम हुई नहीं कि तुम्हारा हिसाब।''[23] मँगरू की सारी मिन्नतें बेकार हो जाती है। वह अपने आपको कितना लाचार, बेबस और असहाय महसूस करता है, इन पंक्तियों की भाषा से साफ पता चलता है। शिवप्रसाद सिंह की अन्य कहानी 'पापजीवी' में भी खेतिहर मजदूर बदलू की स्थिति को भी कहानीकार कुछ इस प्रकार दिखाते हैं, ''अरे वाह, मजाक करता है क्या भाई, अभी तीन दिन हुए, पिछले सतवारे की पूरी–पूरी मजूरी बँटी थी, फिर मजूरी? यह कोई लंगर खुला है कि तुम्हें रोज राशन बाँटा करें। .... मानो, आज तुम्हारी लड़की बीमार है, कल को किसी और की बीमारी होगी तो हम किस–किसकी मदद करेंगे।'' .....'' जाओ भई, कोई इन्तजाम कर लो, तीन दिन और बात है, हम कहीं भागे जाते हैं।''[24] उपर्युक्त पंक्तियों की भाषा को देखकर यही महसूस होता है कि क्या एक आदमी, दूसरे आदमी के साथ इस तरह की बातें कर सकता है, भले ही वह उनका मालिक क्यों न हो?

आदिवासियों के जीवन पर केंद्रित कहानियों की भाषा भी उनके जीवन की वास्तविक तस्वीर को हमारे सामने रखती है। आज आदिवासी समाज अपने जीवन की जिन बड़ी समस्याओं से जूझ रहा है, उसका सबसे बड़ा कारण मुख्यधारा की राजनीतिक पहल की वे विसंगतियाँ हैं, जो सिर्फ वादों और लुभावने शब्दों वाले नारों या शब्दावली से परिचित नहीं है, लेकिन इनकी सामाजिक संरचना ऐसी है कि ये चाहकर भी इस प्रकार के लोगों को अपने जीवन से निकाल नहीं पाते हैं–

'' शाबे भेड़िया धसान है। महतो लोग कब से आदिवासी हो गया और क्रिश्चियन लोग महतो लोग, इसी माफिक ऊ सब जिसका पाश पैशा है, जो गरीब आदिवासी की जमीन दखल किया है, वोई लोग आगे रहेगा। आज भी सब जमीन और नौकरी तुम लोगों के पास है, हमरा का है....।''[25]

यहाँ आदिवासी युवक जिस दयनीय, परन्तु आक्रोश की भाषा में अपनी मनोव्यथा प्रकट करता है, वह बहुत ही सरल तरीके से आदिवासी समाज और मुख्यधारा के अंर्तसंबधों की जटिलता को हमारे सामने रख देता है। इनमें सर्वाधिक जटिल संबंध है, आदिवासी इलाकों में रह रहे 'महतो' लोगों का, जिसकी तरफ इशारा करती हुई उपर्युक्त पंक्यिताँ यह स्पष्ट कर देती है कि आदिवासी समाज को नुकसान पहुँचाने वाली 'महतो जाति' है।

सुरेश कांटक की अधिकांश कहानियाँ बिहार के ग्रामीण समाज पर आधारित है। उनकी कहानियों में प्रयुक्त भाषा में गाँव के लोगों की केवल बोली उभरकर नहीं आई है, बल्कि गाँव के लोगो द्वारा व्यवहृत शब्द भी दिखाई देते हैं, जो मानक हिन्दी के भोजपुरी भाषा में व्यवहृत रूप हैं। इन शब्दों के प्रयोग ने ही ग्रामीण मजदूर, किसान की विवशता, बेबसी, शोषण, अमानवीय व्यवहारों का जीवंत चित्रण खींचते हैं। सुरेश कांटक 'घास' कहानी में लिखते हैं, ''अब हम हियां नाही रहेगा भइया, ई साला भूखे मार देगा हमको, इतना हाड़तोड़ मेहनत हम करता है और खाने को भरपेट नाहीं मिलता ऊ साला कहता है, पैसे नाहीं देगा, भूखों मरो, भागेगा तो चमड़ी नोच लेगा, ऊपर से कर्ज दिखाता है, झूठा–झूठा बिल बनाकर, हम मर जायेगा भइया, बाकी हियां नाही रहेगा, राछस है साला, लील जायेगा।''[26] यहाँ

'हियां नाही रहेगा', 'ई साला', 'ऊ साला कहता है', 'राक्षस', 'लील जायेगा' जैसे शब्द गाँव के मजदूरों की दयनीय स्थिति, मार्मिकता, उत्तेजना और आक्रोश को जिस प्रकार से व्यक्त करता है, वह अति भयानक और डरावना लगता है। ग्रामीण समाज में इन वर्गों को खिलाफ पनप रहे आक्रोश को दिखाती ये पंक्तियाँ इन मजदूरों की शोषित और आक्रोशभरी तस्वीर को जिस सहजता के साथ हमारे सामने रखती है, उससे साफ पता चलता है कि ग्रामीण जीवन में इन मजदूरों की दशा और दिशा कैसी है। पूंजीपति वर्ग की शोषणमूलक प्रवृत्ति इन गाँव के गरीब मजदूर और किसान के लिए जहाँ एक बड़ी समस्या बन पड़ी है। वहीं दूसरी तरफ पुलिस प्रशासन का व्यवहार भी गाँव के लिए अमानवीय रही है। मदद और सुरक्षा बढ़ाने के बजाए इन प्रभुवर्गों के साथ मिलकर गाँव के लोगों के प्रति उदासीन ही दिखाई देते हैं। सुरेश कांटक 'तीसरा तांडव' में लिखते हैं, ''सीरचन बाबू तो मनजीत बाबू के भाई है न?'' हां हुजूर, नम्बरी खचड़ा है।'', ''चुप रहो! बकवास मत करो। ''धीरे से फुसफुसाये दारोगाजी। मनजीत बाबू, जबरपुर के मुखिया, रतनफर प्रखंड के प्रधान, जिला परिषद् के सदस्य और मंत्रीजी के नजदीकी रिश्तेदार हैं। कल ही पहुँचेंगे। पहले ही प्रहार में पेट पर लात मारेंगे। अपने ही पैर में स्वयं कुल्हाड़ी मारना ठीक नहीं।''[27] उसी प्रकार मनीष राय की 'शिलान्यास' आत्मकथात्मक है और सहज भाषा में एक निश्चल और भोली–भाली आदिवासी युवती की एक जज द्वारा शारीरिक शोषण किये जाने की घटना मार्मिक चित्रण करती है। 'मुरिया' जनजाति स्त्री होने के कारण वह अपने पति जज का नाम समाज में नहीं ले सकती है। एक दिन अचानक जज उसके गाँव लौटता है और वह स्त्री अपने बेटे सोमू से उसका परिचय कराती है। तब जज उसे पहचानने से इनकार करता है और उसका अपमान भी करता है, ''चौकीदार, यह पागल औरत कौन है, निकालों इसे कमरे से।'' ..... चपरासी को देखकर वह धोखेबाज चिल्लाया था, ''हटाओं इस रांड को, यहाँ से।''[28] उपर्युक्त पंक्तियाँ से साफ लगता है कि जज जिस भाषा में उस स्त्री का अपमान करता है क्या उसे इस अश्लील शब्दों का प्रयोग करना चाहिए था? मुरिया को देखकर यही लगता है कि आदिवासी युवतियों की यही नियति है। जज का अत्याचार यही नहीं खत्म होता है, बल्कि वह पुलस के साथ मिलकर मां–बेटे दोनों को गलत आरोप में फंसाकर जेल भेजवाता है, ''धोखे–बाज, गद्दार! जिस देवी

ने अठाहर साल से तूझे दिलमंदिर में सजाकर पूजा, उसे तूने रांड कहा, ... हमें थाने ले गये। मुझ पर नक्सली होने का आरोप लगाकर और मां को मेरे असंवैधानिक कार्यों का सहयोगी बताकर अन्दर कर दिया।''[29] यहाँ सोमू के भाषा से स्पष्ट है कि वह केवल जज से अपनी पहचान पाना चाहता था लेकिन जज ने उसे पहचान पाने से इनकार कर दिया। उसके द्वारा प्रयोग किए भाषा और उसमें आये शब्दों से समाज के मुख्यधारा से जुड़े सभ्य पुरूषों के प्रति आक्रोश और गुस्से की भावना फूटती हुई दिखाई देती है। उसे इस बात का और अधिक गुस्सा इसलिए भी यह कि पुलिस प्रशासन भी इन सभ्य लोगों का साथ देती है। समाज में प्रभुवर्ग का कितना दबदबा और आतंक है, जिसके कारण गाँव और उससे जुड़े लोगों की समस्या अनदेखी की ना रही है। गाँव के प्रति उनका भेदभाव का यह तरीका समाज की सुरक्षा पर एक प्रश्न चिन्ह लगा देता है। वस्तुतः गाँव पर केन्द्रित कहानियों में समकालीन कहानीकार ने जिस भाषा और शब्दावली का प्रयोग किया है, वह इनके जीवन–संघर्ष और उनकी क्षमता को पूरी गंभीरता के साथ हमारे सामने उपस्थित करती है। अपने सामाजिक जीवन में सम्मानपूर्वक जीवन व्यतीत करने की इच्छा इनके संघर्ष को तेज करती है तथा उस दौरान ये जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह इनके स्वाभिमान, सामाजिक महत्ता और आत्मीय तुष्टि को प्रकट करने के साथ–साथ इनके नवीन सामाजिक संघर्ष की ओर संकेत करती है।

अपने सामाजिक और राजनीतिक विकास की प्रक्रिया और संघर्ष के दौरान गाँव के लोग जिन नयी संरचनाओं को जन्म देते हैं, उनमें 'संघर्ष की भाषा भी एक महत्वपूर्ण पहलू है। यह संघर्ष की भाषा निश्चित रूप से उनकी आपस की भाषा से अलग होती है। यह संघर्ष की भाषा, एक ओर जहाँ उन गाँव के लोगों के मन में प्रभु–वर्ग के भय और आतंक को निकाल बाहर करती है, वहीं दूसरी ओर एक नये समाज को जन्म देती है। उदाहरण के लिए, सुरेश कांटक की कहानी 'खौफनाक घाटी की चिड़िया' के निम्नलिखित संवाद से पता चलता है कि कैसे गाँव के लोगों की विवशता और दयनीयता की भाषा धीरे–धीरे 'संघर्ष की भाषा' बन जाती है, ''कोई हम लोगों के पास आये, तब न बताते हैं उन्हें असली बात क्या है। अपनी चाल सुधारेंगे नहीं, चले हैं हम लोगों को सुधारने। देखते हैं, क्या कर लेते है।

''परमेसर की आँखो में तल्खी झाँक गई।... ''मैं सोचता हूँ, मंच के सभी सदस्यों की जाँच–पड़ताल कर रहे हैं वे लोग।..... हमें तुरंत ही मंच की एक बैठक बुलानी चाहिए और अपने लोगों का साहस बढ़ाना चाहिए। वे लोग हमारे उन्हीं लोगों को चुन–चुनकर बुलाते हैं हवेली में, जिन पर रोब–दान चल सकता है। जो डरने वाले लेाग है। हमें और आपको क्यों नहीं बुलाते? जानते हैं ईंट का जवाब पत्थर से मिलेगा।''[30] उपर्युक्त सवांद में गरीब, असहाय लोगों की विवशताभरी भाषा, धीरे–धीरे साहस और संघर्ष की भाषा बन जाती है। 'वे लोग हमारे उन्हीं लोगों को चुन–चुनकर बुलाते हैं हवेली में', 'जिन पर रोब–दाब चल सकता है' जैसे वाक्यों में ग्रामीण समाज में लोगों की दयनीय दशा की ओर संकेत करता है। लेकिन बदलती परिस्थितियों ने गाँव के लोगों में साहस भर दिया है। उनकी आवाज मुखर हो उठी है। वहीं गाँव के लोग जो सामंती आतंक के शिकार हैं, अब प्रभु–वर्ग का सामना करने के लिए एकजुट होने लगे है। 'हमें और आपको क्यों नहीं बुलाते? जानते हैं, ईंट का जवाब पत्थर से मिलेगा।' यहाँ स्पष्ट है कि भाषा में बदलाव का कारण सामाजिक– राजनीतिक पृष्ठभूमि तो है ही, साथ ही साथ गाँव के लोगों के अंदर आया आत्मविश्वास है।

संदर्भ ग्रंथः–

1. सचदेव , डॉ. गौतमः प्रेमचंद–कहानी शिल्प, पृ.1
2. वार्ष्णेय, डॉ. लक्ष्मीसागरः 20 वीं शताब्दी–हिन्दी साहित्य नये संदर्भ, पृ. 273
3. चौधरी, सुरेन्द्रः हिन्दी कहानी प्रक्रिया और पाठ, पृ. 69
4. सचदेव, डॉ. गौतमः प्रेमचंद–कहानी शिल्प, पृ. 2
5. वही, पृ. 3
6. त्रिपाठी, डॉ. श्रीपति शर्माः कहानी–कला, विकास और इतिहास, पृ. 28
7. गुप्त, डॉ. राधेश्यामः हिन्दी कहानी का शिल्प विधान, पृ. 169
8. शर्मा, रामविलासः कथा विवेचना और गद्य शिल्प, पृ. 14
9. चौबे, देवेन्द्रः समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, पृ. 235
10. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ. 93
11. शर्मा, रामविलासः कथा विवेचना और गद्य शिल्प, पृ. 87
12. गुप्ता, डॉ. नीलमः हिन्दी कहानी और रचना सिद्धांत, पृ. 199
13. मधुरेशः हिन्दी कहानी का विकास, पृ. 170
14. वही, पृ. 174
15. वही, पृ. 182
16. पहलः 40, सं. ज्ञानरंजन, जुलाई–दिसम्बरः 1990, पृ. 62
17. पाण्डेय, मैनेजरः साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, पृ. 244
18. हरनोट, एस.आर. : मुट्ठी में गाँव, कथा में गाँव में संकलित, सं. सुभाषचंद्र कुशवाहा, पृ. 88
19. वहीं, पृ. 94
20. निर्मोही, नरेन्द्र : परनोट, ग्राम्य जीवन की कहानियों में संकलित कथा, सं. गिरिराज शरण, पृ. 96
21. वही, पृ. 97
22. सिंह, शिवप्रसाद : अन्धकूप (शिवप्रसाद सिंह की कहानियां–1), पृ. 126
23. वही, पृ. 128
24. वहीं, पृ. 183

25. पत्रिकाः हंस, अगस्त–1990, पृ. 73

26. कांटक, सुरेशः खंडित सपनों का नायक, पृ. 174

27. वहीं, पृ. 170

26. राय, मनीषः शिलान्यास, पृ. 83

29. वहीं, पृ. 83

30. कांटक, सुरेशः खंडित सपनों का नायक, पृ. 21

उपसंहार

भारत मुख्यतः गाँवों का देश है, देश में ग्रामीण जनसमुदाय भारतीय समाज का केन्द्र बिन्दु है और वह वास्तविक भारत का प्रतिनिधत्व भी करता है। भारतीय ग्रामीण संरचना में किसान, मजदूर, स्त्री, दलित और आदिवासी मुख्य रूप से आते हैं– किन्तु किसानों के अलावा दलितों, स्त्रियों और आदिवासियों की स्थिति यहाँ अच्छी नहीं दिखाई देती है। स्त्री जहाँ सामंतवादी, पुरूषवादी मानसिकता का शिकार हो रही है, वहीं दलित और आदिवासी ब्राह्मणवादी वर्ण व्यवस्था में निचले स्थान पर होने के कारण दयनीय स्थिति में है। आजादी के बाद भी गाँवों में लोकतांत्रिक मूल्य पूर्णरूपेण स्थापित नहीं हो पाया है। गाँवों में सामाजिक रूढ़ियाँ, अशिक्षा, गरीबी, भूखमरी, सामंती प्रवृत्ति आदि के कारण स्थिति और बदतर हुई है। समकालीन कहानीकारों ने गाँवों की इन समस्याओं को आधार बनाकर महत्वपूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। समकालीन कहानी 1970 ई. के बाद जिस कलेवर से उत्पन्न हुई उसका निरंतर विकास ही होता गया। इसका फलक इतना विस्तृत होता गया कि यह समाज की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक सभी महत्वपूर्ण पहलुओं को आत्मसात करती गई। देश की दुर्दशा के साथ–साथ समाज के हर तबके चाहे वह सामान्य आदमी हो या भिखारी, खेतिहर मजदूर अथवा आदिवासी समाज हो, हर किसी के दुख में समकालीन कहानी शरीक हुई है। समकालीन कहानी बेसहारा और हाशिये के लोगों का हमकदम बनकर साथ चलती आई है। मूल रूप से कहें तो समकालीन कहानी इस नकारी व्यवस्था में एक हस्तक्षेप है। वर्तमान ग्रामीण–परिवेश में परिवर्तनकारी शक्तियाँ कहीं त्वरित और कहीं मन्थर गति से क्रियाशील हैं। भारतीय गाँव अपने स्वरूप और संरचना में संगठनकारी एवं विघटनकारी तत्त्वों के संघर्ष एवं सामंजस्य का स्थल बन गये है। परम्परागत भारतीय गाँव की समाप्ति और नये गाँव की उत्पत्ति देश की विकासशील स्थितियाँ अस्त–व्यस्त स्थिति के भँवरजाल में फंस गई है, अस्त–व्यस्तता ही मानों उनकी नियति बन गई हैं। न पुरानी व्यवस्था पूर्णतः समाप्त हो पाई है और न नई व्यवस्था का उदय ही हो पाया है। परिणामतः विविध स्तरों पर कहीं दोनों में संघर्ष छिड़ा है, तो कहीं स्थिति गड्डमड्ड की है। हिन्दी कहानीकारों ने देश के विविध अंचलों की

समग्र–चेतना को अभिव्यक्त करने में प्रायः तटस्थ दृष्टि ही अपनाई है, जोकि यथार्थ एवं उसकी प्रकृति–प्रत्यकंन के लिए अत्यन्त आवश्यक है। पूर्व प्रेमचंद युग, प्रेमचंद युग, प्रेमचंदोत्तर युग तथा स्वातंत्रयोत्तर युगों में जो हिन्दी कहानी लिखी गई है वह अपनी विकास रेखा में एक विशिष्ट उपलब्धि की प्रतीति कराती है, क्योंकि उसकी इतिहास कल्पनामूलकता से लेकर यथार्थपरकता तक का इतिहास है। यह यथार्थ कोई सैद्धांतिकवाद विवाद तक ही सीमित नहीं रहा है, वरन् यह युग जीवन का यथार्थ है, और उसका समग्रता से बोध कराता है। आरंभ से लेकर बीसंवी सदी के अंतिम छोर तक हिन्दी कथा साहित्य का मुख्य प्रवाह यथार्थ की धरती से जुड़ा रहा है। सामाजिक जीवन के इस यथार्थ को चित्रित करने के नजरिए भले ही अलग हों, किंतु यथार्थ को दरकिनार करके कथाकार आगे नहीं बढ़े हैं। समाज के हर वर्ग की जिंदगी, अपने सम्पूर्ण वैविध्य में उसमें मूर्त्त हुई है। समाजिक– वास्तविकता के साथ व्यक्ति मन के यथार्थ को भी खँगाला गया है। इसी क्रम में ग्रामीण–जीवन पर आधारित स्वाधीनता पूर्व कहानी से लेकर समकालीन कहानियों के ग्राम–जीवन के विविध पक्षों का संक्षेप में वर्णन किया गया है। ग्राम–जीवन के सामाजिक–राजनीतिक–आर्थिक पक्षों के अन्तर्गत उन परिवर्तनशील परिस्थितियों का उल्लेख है, जिन्होंने ग्रामीण समाज की संरचना को प्रभावित किया है।

गाँव के प्राकृतिक परिवेश में आधुनिक रीति–नीतियों, शहरी–सभ्यता के संक्रमण एवं विज्ञान–प्रदत्त जन–संचारी–साधानों जैसे रेडियो, टेलीविजन आदि ने और भी गतिशीलता प्रदान की है। वर्तमान ग्रामीण–परिवेश में विद्रोह–वृत्ति के स्वरों की भी अभिव्यक्ति समकालीन कहानियों में हुई है। गाँव का प्राकृतिक–परिवेश तथा गाँव का संरचनात्मक सामाजिक स्वरूप दोनों ही वर्ग–संघर्ष की नई स्थितियों की उत्पत्ति और उनसे उत्पन्न नई मानसिकता के द्योतक हैं। ग्राम–जीवन की सामाजिक संगति–विसंगतियाँ, कुरूपताएँ और छवियाँ, बनती–बिगड़ती मूल्यवत्ता, टूटते–जुड़ते सम्बन्धों, वर्ग–तनावों एवं संघर्षों आदि के विविध स्वरों से उसका रूपायन हुआ है। गाँव का वर्तमान सामाजिक जीवन परिवर्तित सन्दर्भों में नई मूल्यवत्ता ग्रहण करता हुआ गतिशील है।

आर्थिक प्रगति ने हमारी सांस्कृतिक पहचान को छिन लिया है। भूमंडलीकरण तमाम विविधताओं को नष्ट कर एक विश्वव्यापी संस्कृति लाने का काम करती है। वस्तुतः नई आर्थिक व्यवस्था ने जो संस्कृति लाई है वह बैचेन संस्कृति है। व्यक्ति के अंदर यह हीनताबोध उत्पन्न कर रही है। जिसके पास सामर्थ्य है वह तो उपभोग की वस्तुएँ पा लेता है, किन्तु जिसके पास सामर्थ्य नहीं वह हीन भावना से ग्रसित हो जाता है। कुछ लोग तो बाजारवाद के चक्कर में अपनी जान भी गँवा बैठते है। पंकज बिष्ट की कहानी 'बच्चे गवाह नहीं हो सकते है?' में उपभोक्तावाद और बाजारवाद के जाल में फंसकर एक साधारण आदमी की जान गंवाने की त्रासदी को चित्रित किया है। नई आर्थिक नीतियों के कारण जिस तरह से गाँव के लोग बेरोजगार हो रहे हैं, ऐसे में वे रोजगार की तालाश में शहरों में की ओर पलायन करने को मजबूर हुए हैं। गाँव से युवकों के पलायन से वहाँ की जीवन्तता खत्म होने लगी है। गाँव की जीवंतता वहाँ की संस्कृति का द्योतक होती है। मजदूरों और किसानों के पलायन से खाली हो रहे गाँव में संस्कृति का संकट उत्पन्न हो गया है। प्रेमकुमार मणि की 'खोज' कहानी में विलुप्त हो रही गाँव की जीवंतता को केन्द्र में रखा गया है। लेखक इस कहानी में यह संकेत भी करते है कि आनेवाले समय में ग्रामीण समाज अपनी जड़ से कटकर शहर की भीड़ में खो जाएगा और इस तरह गाँव की विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान भी खत्म हो जाएगी।

स्वतंत्रता के बाद के समकालीन साहित्यकारों ने किसान जीवन पर आधारित सशक्त कहानियाँ लिखी है। ये कहानियाँ हमारे सामने मुख्यतः दो प्रकार की समस्याएँ रखती हैं– पहला, जमीन की समस्याएँ और गांव के प्रभु वर्ग द्वारा खेतिहर मजदूरों के मौलिक अधिकारों के हनन की समस्याएँ। दूसरा, प्रशासन की आर्थिक नीतियों से उत्पन्न समस्याएँ। जमीन की समस्या वहाँ आती है जहाँ वे अपने मालिक द्वारा प्रदत्त किए हुए जोत के एक टुकड़े में खेती करते हैं तथा विपरीत परिस्थितियों में इन्हें जमीन से बेदखल करके एक ही झटके में सब कुछ समाप्त कर दिया जाता है। वहीं दूसरी ओर सरकार द्वारा लाई गई आर्थिक नीतियों के कारण आज किसान और मजदूर विदेशी कंपनियों के चंगुल में फंसकर जान दे रहे हैं। कृषि भूमि का बहुत बड़ा हिस्सा कुछ ही लोगों के पास सुरक्षित हैं शेष जनता

के पास इतनी जमीन नहीं कि अपना भरण–पोषण ठीक से कर सके। अभिप्राय यह है कि हमारे यहाँ भूमि का असमान वितरण भी ग्रामीण समुदाय की आर्थिक दुर्गति का कारण रहा है। भूमि सुधार कार्यक्रम आजादी के बाद से कई राज्यों में ठीक ढंग से लागू नहीं हो पाया है, जिसके कारण स्थिति भयावह हुई है और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों की संख्या लगातार बढ़ती गई है। खेतिहर और दिहाड़ी मजदूरों की स्थिति ऐसी नहीं होती है कि वे अपने मालिक के सामने खड़े होकर बात भी कर सके। अपने जीवनयापन के लिए उन्हें गाँव के खेतिहर किसानों और जमींदारो के खेतों के साथ ही उनके ईट–चूना भट्ठों पर भी दिन–रात कड़ी मेहनत करनी पड़ती है। कहीं–कहीं तो उनकी दशा, गुलामों की तरह होती है और वे अपने मालिक के यहाँ न चाहते हुए भी कार्य करने के लिए विवश होते हैं। उदाहरण के लिए, विजेन्द्र अनिल की कहानी 'हल' और 'विस्फोट', विजयकांत की 'मरीधार', सुरेश कांटक की 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', आदि कहानियाँ जिस मार्मिकता के साथ उन खेतिहर, दिहाड़ी और बंधुआ मजदूरों की बदहाल स्थिति का चित्रण करती है, उसे देखकर नहीं लगता है कि उनकी हालत दासों से बेहतर है। यही कारण है कि जब भी उन्हें कोई आधार अथवा समर्थन मिलता है, संघर्ष के लिए तैयार हो जाते हैं। यह संघर्ष सृंजय की कहानी 'कामरेड का कोट' तथा मदन मोहन की 'चंपा', एवं 'बच्चे बड़े हो रहे हैं' आदि कहानियों में स्पष्ट दिखाई देता है।

ग्रामीण सामाजिक संरचना में स्त्री की मुख्य भूमिका होती है। किन्तु इनकी स्थिति आज भी दयनीय है। ग्रामीण स्त्रियों की दुर्दशा का मूल कारण अशिक्षा, गरीबी, खराब स्वास्थ्य आदि है। परिवार और समाजिक जीवन की मुख्यधारा के अंदर रहते हुए भी वे हाशिये का जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हैं। वे आर्थिक और राजनीतिक रूप से कमजोर नहीं होती हैं और न ही सांस्कृतिक रूप से। बल्कि हमारे समाज की स्थिति ऐसी है कि उसमें 'स्त्रियाँ' बिना किसी पहचान के जीवनयापन कर ही नहीं सकती है। दूधनाथ सिंह की कहानी 'माई का शोकगीत', जगदम्बा प्रसाद दीक्षित की 'गंदगी और जिंदगी', रमेश उपाध्याय की 'माटीमिली', संजीव की 'घर चलो दुलारीबाई', मैत्रेयी पुष्पा की 'उज्रदारी', चित्रा मुद्गल की 'लकड़बग्घा' आदि कहानियाँ इसी सत्य को प्रकट करती है कि 'पुरूष' के बिना

'स्त्री' का न तो परिवार में कोई अस्तित्व है और न ही समाज में। यदि कोई 'स्त्री' बिना किसी पुरूष के सहारे अपने अस्तित्व–निर्माण की कोशिश करती भी है तो पुरूषसमाज उसके साथ हर प्रकार की बदतमीजी करता है।

भारतीय सामाजिक संरचना की तरह ही गाँवों में भी वर्ण व्यवस्था व्याप्त है और इस व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर दलित समाज है। जाति व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था है जिसका जन्म ही शोषण, दमन और उत्पीड़न के लिए हुआ है तथा इसका संबंध दमनकारी प्रवृत्तियों से है। गाँवों में जारी जजमानी प्रथा भी इस व्यवस्था को बनाए रखने में मदद करती है। इस प्रथा ने निम्न जाति के लोगों के अंदर ऐसी भावना भर दी है कि कुछ जातियों का उदय ही सरंक्षक अथवा मालिक की भूमिका निभाने के लिए हुई है तथा कुछ की सेवा करने के लिए। दरअसल ब्राह्मणों द्वारा बनायी हुई यह व्यवस्था ग्रामीण जीवन की पूरी संरचना में लोगों के बीच अलगाव की भूमिका निभाती है तथा कुछ जातियों को श्रेष्ठ बताती है तो कुछ को निम्न, किन्तु आजादी के बाद जैसे–जैसे दलितों में शिक्षा के कारण ज्ञान तथा आत्मसम्मान का विकास हुआ तथा उनकी स्थिति थोड़ी मजबूत हुई, वे अपनी अस्मिता के प्रति और अधिक सचेत होते हुए तथा सामूहिक रूप से सामंतों और महाजनों के शोषण और दमनपूर्ण रवैये के खिलाफ लड़ने के लिए मैदान में उतर आये हैं। ओमप्रकाश वाल्मीकि की कहानी 'सलाम', मधुकर सिंह की कहानी 'हरिजन सेवक', रमणिका गुप्ता की कहानी 'बहु जुठाई' में सामंतों के इन्हीं शोषण और दमन के खिलाफ आवाज उठाई गई है।

भारतीय सामाजिक जीवन की मुख्यधारा के बाहर जो समाज हाशिये की जिंदगी व्यतीत करने को विवश है, उनमें 'आदिवासी समाज' सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। उसे एक विशेष जनजाति का मानकर मुख्यधारा के निर्माता कुछ इस प्रकार की नीतियाँ तैयार करते हैं कि इस लुप्त होती जनजाति और उसकी संस्कृति को अब किसी–न किसी रूप में सुरक्षित रखना अत्यंत जरूरी है। आदिवासी समाज के जीवन–संघर्ष पर विचार करने पर पता चलता है कि विकास की प्रक्रिया ने, राजनीतिक व्यवस्था के साथ मिलकर आदिवासी समाज को जितना छला है, उतना किसी और ने नहीं। एक तो विकास के नाम पर उनकी जमीनें हड़प ली, दूसरे उन्हें

इतना मुआवजा भी नहीं दिया कि उनका सही ढंग से पुनर्वास हो सके। परिणामत, उन्हें मुख्यधारा की राजनीति के खिलाफ संघर्ष करने के लिए बाध्य होना पड़ा। संजीव की 'पांव तले की दूब', भालचंद्र जोशी की 'पहाड़ो पर रात' और कैलाश वनवासी की 'सुरक्षित–असुरक्षित' कहानियाँ आदिवासी समाज के जीवन की इन्हीं विडंबनाओं की ओर संकेत करती है।

अपने दैनिक जीवन में गाँव के लोग जिस भाषा का प्रयोग करते हैं, वह विचार करने योग्य है। कहानीकारों ने गाँव के लोगों की क्षेत्रीय भाषा में ही कहानियों की रचना की है, जिससे कहानियाँ कहीं अधिक वास्तविक और जीवंत हो उठती है। उनकी यह भाषा एक ओर जहाँ गाँव के लोगों की जिंदगी की वास्तविकता को प्रकट करती है, वहीं दूसरी ओर मुख्यधारा के साथ उनके सम्बन्धों को भी बताता है, क्योंकि गाँव के लोगों में आया यह बदलाव अकारण नहीं है। इस जीवन–संघर्ष में उनकी मानसिकता, जिस भाषा का निर्माण करती है, उसमें कहीं–न–कहीं संघर्ष की वह प्रतिध्वनि और उसे समानांतर बार–बार उनके पराजित होने की उदास धुने जरूर सुनाई पड़ती है।

ग्रामीण समाज जो भारतीय संस्कृति का अभिन्न अंग रहा है, आज संकट की स्थिति में हैं, वहीं सरकारी नीतियाँ इनकी दशा सुधारने की बजाए और खराब कर रही है। गाँव में विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं ने भी कदम जमाए है, इससे पूरी ग्रामीण संस्कृति ही बदलती नजर आ रही है। वहीं गाँव में स्त्री, दलित और आदिवासी समाज सदियों से बेहाल हैं। गाँवों में हुए इन्हीं बदलावों का मैंने अध्ययन किया है।

(क) आधार ग्रंथ

1. अनिल, विजेन्द्र : 'विस्फोट', प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद, 1984
2. अफरीदी, नफीस : 'नफीस अफरीदी की विशिष्ट कहानियाँ', शीर्षक प्रकाशन, दिल्ली, 1993
3. उपाध्याय, रमेश : 'माटीमिली', धरती प्रकाशन, बीकानेर 1981
4. कांटक, सुरेश : 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', धरती प्रकाशन, बीकानेर, 1984
   : 'जमीन', शारदा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1987
   : 'जनता की अदालत', शांति प्रकशन, इलाहाबाद, 1993
5. गुप्त, भैरवप्रसाद : 'मंगली की टिकुली', धारा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1982
   : 'मेरी प्रिय कहानियाँ', दिशा प्रकशन, दिल्ली, 1986
6. जोशी, शेखर : शेखर जोशी की संकलित कहानियाँ, नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, 2000
7. प्रकाश, उदय : 'दरियाई घोड़ा', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1982
8. प्रकाश, अरुण : 'भैया एक्सप्रेस', आयाम प्रकाशन, दिल्ली 1992
   : 'जल प्रांतर',सचिन प्रकाशन, दिल्ली, 1991
9. प्रकाश, स्वयं : 'सूरज कब निकलेगा', प्रकाशन संस्थान दिल्ली, 1981
   : 'आदमी जात का आदमी', किताबघर, दिल्ली, 1994
10. बिस्मिल्लाह, अब्दुल : 'जहरबाद', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1987
11. बटरोही : 'अनाथ मुहल्ले के ठुल–दा', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1991
12. बटरोही, दयानंद : 'सुरंग', ज्योत्साना गहलौत प्रकाशन, चंद्रफरा (झारखण्ड), 1995
13. बिष्ट, पंकज : 'चर्चित कहानियाँ', सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, 1996
   : 'पंद्रह जमा पच्चीस', तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली, 1980

14. भटनागर, हरि : 'सगीर और उसकी बस्ती के लोग', भारत भारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1989

15.भारद्वाज, (डॉ.) हेतु (सं.) : 'प्रतिनिधि कहानियाँ– 1985', पंचशील प्रकाशन, जयपुर, 1986

16. मिथिलेश्वर : 'प्रतिनिधि कहानियाँ– राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1997

: 'गाँव के लोग', राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली, 1981

: 'तिरिया जनम', किताबघर, दिल्ली, 1993

17. मोहन, मदन : 'बच्चे बड़े हो रहे हैं', दिशा प्रकाशन, त्रिनगर, दिल्ली, 1989

18. मिश्र, रामदरश : 'चर्चित कहानियाँ', सामयिक प्रकाशन, दिल्ली, 1993

: 'मेरी प्रिय कहानियाँ', साहित्य सत्कार, दिल्ली, 1990

19. मणि, प्रेमकुमार : 'अंधेरे में अकेल', परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1992

20. मिश्र, गोविन्द : 'नये पुराने माँ–बाप', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1984

: 'पगला बाबा', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1980

21. मुद्‌गल, चित्रा : 'जगदंबा बाबू गाँव आ रहे हैं', नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली– 1992

22. मुंडा, रामदयाल : 'ए' अ नवकानिको' (सात नयी कहानियाँ) सरस्वती प्रेस, उदयपुर, राजस्थान, 1980

23. मुंडा, मंगल सिंह : 'महुआ का फूल', मीनाक्षी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 1998

24. राय, विवेकी : 'गूँगा जहाज', शब्दकार प्रकाशन, दिल्ली, 1977

: 'नया गाँव नामा', परिजता प्रकाशन, पटना, 1984

: 'चित्रकूट के घाट पर', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1988

25. राय, मनीष : 'शिलान्यास', प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1980

26. शिशिर, कर्मेंदु : 'कितने दिन अपने', संभावना प्रकाशन, दिल्ली, 1989
: 'बची रहेगी जिन्दगी', आधार प्रकाशन, पंचकूला (हरियाणा), 1996
27. शरण, गिरिराज (सं.) : 'ग्राम्य जीवन की कहानियाँ', प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, 1986
28. शर्मा, प्रेमपाल : 'तीसरी चिट्ठी', सचिन प्रकाशन, दिल्ली, 1989
29. सृंजय : 'कामरेड का कोट', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1993
30. संजीव : 'दुनिया की सबसे हसीन औरत', यात्री प्रकाशन, दिल्ली, 1990
: 'पांव तले की दूब', प्रवीण प्रकाशन, दिल्ली, 1995
: 'प्रेतमुक्ति', दिशा प्रकाशन, दिल्ली, 1991
31. सुलभ, ह्रषिकेष : 'पथरकट', प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1987
32. सिंह, मुधकर : 'प्रतिनिधि कहानियाँ', भारती प्रकाशन, दिल्ली, 1982
: 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ', किताबघर प्रकाशन, दिल्ली, 1994
33. सिंह, दूधनाथ : 'माई का शोकगीत', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 1992
34. सिंह, काशीनाथ : 'सुबह का डर', रचना प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975
: 'आदमीनामा', प्रकाशन संस्थान, दिल्ली, 1978
: 'कल की फटेहाल कहानियाँ', प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद, 1980
: 'प्रतिनिधि कहानियाँ', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1982
35. सिंह, शिवप्रसाद : 'अन्धकूप', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1985
: 'दस प्रतिनिधि कहानियाँ', किताबघर, दिल्ली, 1994
36. विजयकांत : 'बीच का समर', प्रतिमान प्रकाशन, इलाहाबाद 1983

37. वियोगी, कुसुम (डॉ.): 'चार इंच की कलम', समता प्रकाशन, दिल्ली, 1996

: 'समकालीन दलित कहानियाँ', मुहिम प्रकाशन, हापुड़, 1998

38.वाल्मीकि, ओमप्रकाश : 'सलाम', राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली, 2000

(ख) सहायक–ग्रंथ (हिन्दी)

1. अमीन, शाहिद, ज्ञानेंद्र पाण्डेय (सं) : 'निम्नवर्गीय प्रसंग', राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2007

2. अवस्थी, डॉ. देवी शंकर : 'नई कहानी संदर्भ', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1998

3. उर्मिलेश : 'उदारीकरण और विकास का सच', अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, दिल्ली, 2010

4. कर्ण, महेन्द्र नारायण : 'भारत में सामाजिक परिवर्तन', एनसीईआरटी, 12वीं कक्षा के लिए, नई दिल्ली, 2003

5. काबरा, कमल नयन : 'भूमंडलीकरण के भंवर में भारत', प्रकाशन संस्थन, दरियागंज, नई दिल्ली, 2005

6. कास्त्रो, फिदेल : 'साम्राज्यवादी वैश्वीकरण', संवाद प्रकाशन, मेरठ, 2008

7. केरकेट्टा, रोज़ : 'पघा जोड़ जोड़ी रे घाटो', देशज प्रकाशन, रांची, 2009

8. गुप्ता, रमणिका : 'दलित चेना–साहित्य एवं सामाजिक सरोकार', समीक्षा प्रकाशन, गाँधीनगर, दिल्ली 2001

: 'आदिवासी स्वर और नई शताब्दी', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

: 'साम्प्रदायिकता के बदलते चेहरे', वाणी प्रकाशन, दरियांगज, नई दिल्ली, 2004

9. चौबे, देवेन्द्र : 'समकालीन कहानी का समाजशास्त्र', प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2001

10. जोशी, रामशरण (सं) : 'वैश्वीकरण के दौर में', समयान्तर प्रकाशन, दिलशाद गार्डेन, नई दिल्ली, 2006

11. दुबे, श्यामाचरण : 'भारतीय ग्राम', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996

: 'मानव और संस्कृति', राजकमल प्रकाशन, दिल्ली 2010

: 'भारतीय समाज', नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, दिल्ली 2011

12. देवी, महाश्वेता और त्रिपाठी,: 'सिंगुर और नन्दीग्राम से निकले सवाल', अरूण कुमार

वाणी प्रकाशन , 2007

13. नागला, बी.के. : 'भारतीय समाजशास्त्रीय चिन्तन', रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2015

14. पटनायक, किशन : 'किसान आंदोलन–दशा और दिशा', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006

15.प्रधान, हरिशंकर प्रसादः 'खेतिहर समाज, फिलहाल ट्रस्ट', श्रीकृष्ण नगर पटना, 2006

16. भल्ला, जी.एस. : 'भारतीय खेतिहरों की स्थिति' (अनु. गिरीश मिश्र) , ने.बु.ट्र. ग्रीन पार्क, नई दिल्ली 2007

17. भारती, कंवल : 'दलित विर्मश की भूमिका', इतिहासबोध प्रकाशन, इलाहाबाद, 2004

18. मधुरेश : 'हिन्दी कहानी का विकास', सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद 2000

19. मिश्र, शिवकुमार : 'यथार्थवाद', वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2009

20. मोहनन, एन. : 'समकालीन हिन्दी कहानी', शिल्पायन, नई दिल्ली 2007

21. मोहन, नरेन्द्र : 'समकालीन हिन्दी कहानियाँ', भारतीय प्रकाशन संस्थान, दिल्ली 1994

22. मिश्र, गिरिश : 'बाजार और समाज', स्वराज प्रकाशन, दिल्ली, 2009

23. यादव, राजेन्द्र : 'कहानी, स्वरूप और संवेदना', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2002

24. रामबक्ष (प्रो.) : 'प्रेमचंद और भारतीय किसान', वाणी प्रकाशन, दिल्ली, 1982

25. विमल, गंगाप्रसाद : 'आधुनिक हिन्दी कहानी', ग्रंथलोक, दिल्ली, 2007

26. वर्मा, धनंजय : 'हिन्दी कहानी का सफरनामा', प्रवीण प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2001

27. शाह, घनश्याम : 'भारत में सामाजिक आंदोलन', रावत पब्लिकेशन्स जयफर, 2004

28. शर्मा, दया किशन : 'स्वातंत्र्योत्तरहिन्दी कहानी– मूल्यबोध', संजय प्रकाशन, दिल्ली, 1990

29. शर्मा, के.एल : 'भारतीय समाज', एनसीईआरटी, 12वीं कक्षा, 1989

30. श्रीनिवास, एम.एन. : 'आधुनिक भारत में जाति', भूमिका से (अनु. रश्मि चौधरी), राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2001

: 'भारत के गाँव', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली 2004

31. सिंह, पुष्पाल : 'समकालीन हिन्दी कहानी', हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़ 1987

32. सिन्हा, सच्चिदांनद : 'लोकतंत्र की चुनौतियाँ', वाणी प्रकाशन, दरियांगज, नई दिल्ली, 2005

33. सिंह, योगेन्द्र : 'भारत में सामाजिक परिवर्तन', जवाहर पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स, नई दिल्ली, 1999

: 'भारतीय परम्परा का आधुनिकीकरण', रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2014

34. सिग्रिस्ट, क्रिस्टियन : 'भारत में किसान संघर्ष', दि मैकमिलन कंपनी ऑफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, 1980

(ग) सहायक–ग्रंथ (अंग्रेजी)

1. Desia, A.R. : 'Rural sociology in India', popular publication pvt. Ltd., Pt. Madanmohan, Malviya Marg, Mumbai, Edition: 1969

2. Ghanshyam, Shah : 'Nexalbari and the left Movement In Social Movements and the state', Sage Publication, New Delhi, 2002

3. Gupta, Rakesh : 'Bihar Peasantry and the Kisan Sabha', People's Publishing House, Delhi, 1982

4. Gorki, Moxim : 'On Literature', Unviersity Press of the Pacific, March, 2011

5. Jawald, Sohail : 'The Naxalite Movement in India', Associated Publishing House, New Delhi, 1979

6. Lucas, Goorge : 'The Meaning of contemporary Realsim', DE Mont fort Universtiy U.K., 1963 : 'Stuies in Europen Realsim', Grossed and Dunlop, 1964

7. Marks, Kaal : 'On Literature and art', Progress Publisher, 1976

8. Shrinivas, M.N. : 'Social Structure of an Indian Village', Cosmopublications, Ansari Road, Dariyaganj, New Delhi, 2005

9. Shukla, N.K. : 'Social structure of an Indian Village', Cosmopublication, Ansari Road, Dariyaganj, New Delhi, 1976

10. Upadhyay, V.S., V.P. Sharma: 'Contemporary Indian Society', Anmol publication Pvt. Ltd., Daryaganj, New Delhi, 1995

(घ) पत्र– पत्रिकाएँ (हिन्दी)

1. आदिवासी सत्ताः सं. के.आर. शाह (मासिक), भिलाई नगर, दुर्ग, छत्तीसगढ़
2. आजकल–संपाकदक : प्रवीन उपाध्याय, अंकः मई 2015, हीरक जयंती, पटियाला हाउस, नई दिल्ली।
3. कुरुक्षेत्र–सं. स्नेहराय, अंक अक्टूबर 2004, ग्रामीण विकास मंत्रालय, नई दिल्ली
4. फिलहाल– सं. प्रीति सिन्हा, 1–30 अप्रैल 2004 अंक, फिलहाल ट्रस्ट प्रकाशन, श्री कृष्ण नगर, पटना।
5. भारत– 2006, प्रकाशन विभाग, सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, लोधी रोड, नई दिल्ली
6. योजना– प्रधान संपादक एस.बी.शरण, अंकः अगस्त 2008, योजना भवन, संसद मार्ग, नई दिल्ली।
7. योजना–प्रधान सं. नीता प्रसाद, अंकः अक्टूबर 2008, योजना भवन, संसद मार्ग, नई दिल्ली।
8. योजना–प्रधान सं. नीता प्रसाद, अंकः फरवरी 2007, योजना भवन, संसद मार्ग, नई दिल्ली।
9. समकालीन परिभाषाः सं. ऋषिकेश और राकेश रेणु, जुलाई–सितम्बर, 1981
10. स्मारिका– नवम् बिहार राज्य सम्मेलन, 12, 13 और 14 फरवरी 1988
11. स्त्री काल, सं. संजीव चंदन, सुमि सौरभ– वर्धा रोड, सेवाग्राम, महाराष्ट्र।
12. समयांतर–सं. पंकज बिष्ट, अंकः मई 2006, दिलशाद गार्डेन, नई दिल्ली।

13. समयांतर– सं. पंकज बिष्ट, अंकः जुलाई 2006, दिलशाद गार्डेन, नई दिल्ली।

(घ) पत्र–पत्रिकाएँ (अंग्रेजी)–

1. 1974, 'The Naxalite Movement: A Mdaoist Experiment Culcutta: Firma K.L. Mukhapodhyay.
2. 1974, 'Indian Peasant Uprising', Economic and Political Weekly, 9 ¼32-34½ Special Number, August.
3. 1981, The Telangana Movement, 1944-51, Delhi: Vikas Publishing House.